Chapter-2

द्वितीय अध्याय

देवेन्द्र शर्मा इन्द्र का कृतित्व; विवरणात्मक विवेचन

पहली कविता

कवि देवेन्द्र, शर्मा 'इन्द्र' की आयु बारह-चौदह वर्ष से अधिक नहीं रही होगी, जब इन्द्र जी प्रायः रक्षा-बन्धन अथवा विवाह-शादियों के अवसर पर अपनी ननिहाल जाया करते थे। वहाँ सभी तीन-तीन चार-चार दिनों तक ठहरते थे। और भी रिश्तोदारों का जमघट होता था। उनमें से कई लोग इनके नाना नाना जी की अथांई (आस्थानी या चौपाल) पर एकत्र होकर घण्टों तक काव्य-पाठ किया करते थे- अधिकतर ब्रजभाषा के कवित्त-सवैयों के माध्यम से। इन्द्र जी की इच्छा होती थी कि मैं उन लोगों के साथ प्रतियोगिता में भाग लूँ, किन्तु तब इन्द्र जी के पास नरोत्तमदास के 'सुदामा-चरित' तुलसीदास की 'कवितावली' के छन्दों और रसखान के थोड़े से सवैयों के अतिरिक्त अपनी कोई पूँजी नहीं थी। अतः मौनपर्यत्सुक-भाव से उन लोगों की कविता पढ़ते सुना करते थे और छन्दों की लय तथा प्रवाह को पकड़ने का प्रयास किया करते थे। उन्हीं दिनों आगरा में जहाँ रहते थे, इनके पड़ोस में बम्बई से लौटे 'आपबीती' नामक किसी पत्रिका के उपसंपादक स्व. ओमप्रकाश लवानिया भी रहने लगे थे। उनके देखा-देखी इनके मन में भी यह भावना उत्पन्न हुई कि बड़ा होने पर मैं भी एक लेखक-कवि और सम्पादक बनूँगा। सन् 1944 से 48 के प्रारंभिक चरण में 'इन्द्र' जी की शिक्षा एक आर्य-समाजी विद्यालय में हुई थी, जहाँ प्रत्येक रविवार को एक समागम-संगोष्ठी का हवन के पश्चात आयोजन होता था। 'इन्द्र' जी भी उस गोष्ठी में प्रति-सप्ताह भाषण देने की कला सीखने के संदर्भ में सक्रिय भागीदारी करते और पुरस्कृत होते थे। तभी 2 अक्टूबर 1947 को जब ये आठवी कक्षा के छात्र थे, तब इनको आगरा जनपद में आयोजित सुलेख प्रतियोगिता में हिन्दी / अंग्रेजी के सुलेख में प्रथम पुरस्कार भी मिला था। पुरस्कार में दस रुपये मिले थे, जिनका आज के समय में एक हजार रुपये की बराबर मूल्य तो होगा ही। ये घटनाएँ परोक्ष-रुप से इनकी चेतना में निहित काव्य-संस्कारों को कहीं-न-कहीं प्रगट कर रही थीं। बंगाल और बिहार में तब प्रान्त-व्यापी, हिन्दू-मुस्लिम दंगे शुरु हो गए थे। उन्हीं दिनों इन्होंने एक तुकबंदी की थी, जिसको यथास्थान इनके पिता जी ने संशोधित भी कर दी थी। उस छन्द की प्रारंभिक पंक्ति कुछ इस प्रकार थी-

''हाय-हाय बंग नरमेघ तेरौ देखिकर
काँपि उठी सृष्टि और विदीर्ण हिय हो गया।''[1]

शायद वही इनकी पहली कविता रही होगी। तभी 30 जनवरी 1948 को महात्मा गांधी की निर्मम हत्या कर दी गई। उस घटना ने इनको किशोर होते हुए कवि मन को

भीतर तक झकझोर दिया और फलस्वरुप इन्होंने उससे संबंधित लगभग तीस चालीस छंद लिख डाले। जिन्हें बाद में साहस करके अपने से बड़ों के सम्मुख प्रस्तुत करने का दुःसाहस भी करने लगे। इनकी काव्य-रचना के संस्कारों को इनके एक वयः प्राप्त पड़ोसी स्व. उमाशंकर कुलश्रेष्ठ का शिष्यत्व ग्रहण करने के बाद और भी तीव्र गति प्राप्त हुई।

अगले वर्ष जब ये मिशन हाईस्कूल आगरा के छात्र बने तो नवम कक्षा के छात्र के रुप में इन्होंने 'वसन्त है' शीर्षक कविता एक प्रतियोगिता में पढ़ी और बाबू गुलाब राय एम.ए. के करकमलों से पुरस्कार प्राप्त किया। यह पुनः एक सुखद संयोग हुआ कि दसवीं कक्षा में ये जिन प्राईवेट ट्यूटर से अंग्रेजी पढ़ रहे थे, वे भी एक अच्छे कवि, कथाकार और उपन्यासकार थे। उनकी तब-तक कुछ किताबें छप भी चुकी थीं। जो इन्होंने उनसे लेकर पढ़ डालीं और उनके सुझाव से ब्रज-भाषा छोड़कर खड़ी बोली को अपनी काव्याभिव्यक्ति बनाने का निर्णय ले लिया। नौवीं कक्षा के छात्रकाल में इन्द्र जी स्वयं खड़ी बोली में गीत-रचना करने का अभ्यास करने लगे थे। इन्होंने प्रारंभिक गीतों की एक पांडुलिपि भी तैयार की थी, जिसे इनके उन प्राइवेट ट्यूटर श्री मोती लाल त्रिपाठी 'अशान्त' ने ले लिया था। उन्होंने इन्हें यह दिलासा दी थी कि वे उसे 'शारदा-साहित्य सदन झाँसी' से प्रकाशित करा देंगे। किन्तु यह शुभ घड़ी इनके जीवन में कभी नहीं आयी। 'टूटे सपने' नाम की वह पांडुलिपि भी उन्हीं के साथ चली गयी। उधर डेढ़-दो बरस पहले से लिखे ब्रज-भाषा के छन्दों की कॉपी को इन्होंने अपने एक काव्य-प्रेमी ममेरे भाई स्व. लोचन प्रसाद को यह कहकर दी थी कि वे उनका उपयोग कर सकते हैं।

जिन दिनों ये आठवीं कक्षा के छात्र थे उन्हीं दिनों के कुछ आगे-पीछे आगरा नगर पालिका के शिक्षकों की एक लम्बी हड़ताल हुई थी। तब स्थानीय हड़ताली शिक्षकों का एक जलशा बेकर पार्क नाई की मण्डी में आयोजित हुआ था, जिसमें स्व. शालिग्राम 'प्रचेता' और विश्वंभर नाथ उपाध्याय के साथ-साथ इन्होंने भी काव्य पाठ किया था। इनकी कविता की प्रथम पंक्ति थी - 'मैं शिक्षक पुत्र कहाता हूँ' जिसे उपस्थित श्रोताओं की प्रगाढ़ प्रशंसा मिली थी। उपर्युक्त उपाध्याय जी बाद में आगरा कॉलेज में इनके वरिष्ठ सहयोगी प्रध्यापक बने और कालान्तर में एक प्रख्यात समीक्षक और कानपुर विश्व-विद्यालय के उप-कुलपति भी (Vice-chancellor) बने थे।

पहली कृति

जहाँ तक इन्हें स्मरण है ('इन्द्र' जी) ये और इनके भाई शशि भूषण सिंहल (सेवानिवृत्ति अध्यक्ष हिन्दी विभाग, महर्षि दयानंद वि. वि. रोहतक) ने सन् 1948 के आस-पास 'झंकार' नामक जो हस्तलिखित पत्रिका निकाली थी, उसमें इनका गीत था-

''मिटेगा जीवन का इतिहास

बुझेगी नहीं आस की प्यास।''[2]

ये उसी को आज अपनी प्रारंभिक रचना कहें तो अनुचित नहीं होगा।

यों विधिवत-रूप से सन् 1950 में काव्य-रचना के क्षेत्र में अविराम प्रविष्ट हुए थे। तब से लेकर आज-तक वह शब्द-यात्रा अनेक मोड़ों पर वार करती हुई लक्ष्यांभिमुख बनी हुई है।

'इन्द्र' जी की अप्रकाशित कृतियाँ

1.	कारा	पारंपरिक गीत संग्रह
2.	मरीचिका	''
3.	सान्ध्य किरण	''
4.	पक्षी और उड़ान	''
5.	कचनार की कलियाँ	''
6.	ऋतु संहार	ब्रजभाषा में काव्यानुवाद
7.	ऋतु संहार	खड़ी बोली में काव्यानुवाद
8.	राख और अंगारे	प्रगतिशील कविताएँ
9.	नील बाँसुरी	ब्रजभाषा में मौलिक तथा अनूदित कविताएँ
10.	मैं साक्षी हूँ	प्रबन्ध काव्य
11.	प्रयोगशील / नयी कविताएँ	
12.	प्रयोगशील / नयी कविताएँ	
13.	लगभग 500 ग़ज़लों की 5 पांडुलिपियाँ	
14.	बीस हजार दोहे की 20 पांडुलिपियाँ (इन में से 3 यंत्रस्थ हैं)	
15.	मेरे प्रश्न उत्तर आपके - एक साक्षात्कार	
16.	भूमिकाएँ	नवगीत / गीत
17.	भूमिकाएँ	दोहा / गजल

के अतिरिक्त 2000 पृष्ठों की प्रकीर्ण गद्य सामग्री।

अन्य प्रकाशित कृतियाँ – प्रकाशन वर्ष, प्रकाशन विधा

समीक्षा–भाष्य परक कृतियाँ

1. बिहारी सतसई 1957 विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा
2. जय शंकर प्रसाद तथा आँसू 1958 ''
3. महाकवि हरिऔध और उनका प्रिय प्रवास – 1959 ''
4. लश्मी नारायण मिश्र और 'जगद्गुरु' नाटक – 1960 प्रीतम बुक डिपो, आगरा
5. 'रश्मिबन्ध' तथा सुमित्रानंदन पंत – 1961 विनोद पु. मंदिर आगरा
6. महाकवि निराला और 'राम की शक्ति पूजा' – 1966 – ''

सम्पादित – पुस्तकें

7. ताज की छाया में (कविता संग्रह) – 1959 – साहित्य रत्न भंडार, आगरा
8. यात्रा में साथ–साथ (नवगीत संग्रह) – पराग प्रकाशन विश्वास नगर शाहदरा
9. सप्तपदी 1 (दोहा संग्रह) 1992 अयन प्रकाशन महरौली, नई दिल्ली
10. सप्तपदी 2 '' 1994 ''
11. सप्तपदी 3 '' 1995 ''
12. सप्तपदी 4 '' 1997 ''
13. सप्तपदी 5 '' 1999 ''
14. सप्तपदी 6 '' 2000 ''
15. सप्तपदी 7 '' प्रकाश्य – ''

मौलिक काव्य

16. कालजयी (खण्डकाव्य) (1977) राजेश प्रकाशन कृष्ण – नगर दिल्ली 110051
17. आँखों खिले पलाश (दोहा संग्रह) (1997) अनुभव प्रकाशन, साहिबाबाद
18. तन्हा खड़ा बबूल (''') यंत्रस्थ ईशान प्रकाशन
19. अफवाहों के पंख (''') ''
20. दिन सेंदुर–सा धुल उठा (''') ''

काव्यानुवाद

21. मेघदूत ''

मौलिक नवगीत संग्रह

22. पथरीले शोर में (1972) पुस्तक प्रचार, गांधी नगर, दिल्ली 110031
23. पंखकटी महराबें (1978) अनुराग प्रकाशन महरौली, नई दिल्ली 110030
24. कुहरे की प्रत्यंचा (1979) राजेश प्रकाशन कृष्ण नगर दिल्ली 110051
25. चुप्पियों की पैजनी (1988) लोक प्रकाशन, दिल्ली-6.
26. दिन पाटलिपुत्र हुए (1988) प्रवीण प्रकाशन महरौली नई दिल्ली 110030
27. आँखों में रेत-प्यास (1989) प्रीति मंदिर प्रकाशन, शाहदरा-दिल्ली 32.
28. पहनी है चूड़ियाँ नदी ने (1998) अनुभव प्रकाशन, साहिबाबाद गाजियाबाद
29. अनन्तिमा (2000) राजेश प्रकाशन
30. घाटी में उतरेगा कौन (2001) ईशान प्रकाशन, मेरठ
31. हम शहर में लापता हैं (2001) ''
32. गंधमादन के अहेरी (2003) अनुभव प्रकाशन, लाजपत नगर, साहिबाबाद, गाजियाबाद
33. देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' व्यक्ति और अभिव्यक्ति (1998) प्रीति मंदिर प्रकाशन, शाहदरा, सं. डॉ. पालभसीन, डॉ. भारतेन्दु मिश्र,
34. साहित्य मनीषी श्री देवेन्द्र शर्मा इन्द्र जीवन और सृजन (2001) डी-3 शांतिनगर, दत्तमंदिर रोड, मालाड (पूर्व), मुम्बई-97.

अनुसंधान ग्रंथ

35. हिन्दी नवगीत परंपरा को देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' का योगदान। चौधरी चरण सिंह वि.वि.मेरठ से 2001 में शोध कर्ता-योगेन्द्र कौशिक निर्देशक-डॉ. केशव राम शर्मा
36. नवगीत को देवेन्द्र 'इन्द्र' का अवदान डॉ. भीमराव अम्बेडकर वि.वि. आगरा से 2001 में शोधकर्ता-प्रफुल्लिता तिवारी निर्देशक-डॉ. विपिन कुमार चतुर्वेदी
37. प्रस्तुत शोध प्रबंध - शोध छात्रा श्रीमती अंजनी गुप्ता निर्देशक : डा. विष्णु विराट, म.स. विश्वविद्यालय, बड़ौदा.

साहित्य सम्मान

आचार्य मम्मट ने काव्य के प्रयोजनों का प्रतिपादन करते हुए 'यश' प्राप्ति को सर्वोपरि स्थान दिया है। तदन्तर वे 'अर्थ' का उल्लेख करते हैं। कौन नहीं चाहता कि दूसरे व्यक्ति उसके कृत्य (रचनाकर्म) की प्रशंसा और लोक में चर्चा न करे ? कौन नहीं चाहता कि उसके मौलिक विग्रह के परिक्षीण होने के बाद भी संसार में उसका गुणगान न हो ? यह श्रेष्ठ और महान तथा लोक-मंगल एवं लोक-रंजनकारी कार्यों द्वारा ही सम्भव है। महर्षि वाल्मीकि, व्यास और महाकवि कालिदास के यश की सुगन्ध आज भी सर्वत्र व्याप्त है, जब कि उन्हें दिवंगत हुए सहस्राब्दियाँ बीत गयीं। कवि अथवा कलाकार के मन में यश की प्राप्ति की यह सात्विक आकांक्षा ही उसे कवि-कर्म की दिशा में प्रवृत्त करती है। यह 'यश' अथवा सम्मान देर-सवेर, न्यूनाधिक मात्रा में कवि को मिलता भी है, किन्तु उसे यह भी स्मरण रखना चाहिए-''कर्मण्येवाधि कारस्ते मा फलेषु कदाचन।'' शाल, नारियल और सुवर्ण-रौप्य को ध्यान में रखते हुए कभी श्रेष्ठ रचना नहीं हो पाती। क्योंकि तब रचनाकार का ध्यान साधना से विरत होकर 'साध्योन्मुख' हो जाता है। 'अर्थलिप्सा' पर नियन्त्रण कर पाना सरल नहीं होता। भक्ति काल के कुछ भक्त और सन्तकवियों को छोड़कर पूर्ववर्ती और परवर्ती कवि पद प्रतिष्ठा और सम्मान के साथ-साथ 'अर्थ-वैभव' संचित करने में भी कभी पीछे नहीं रहे। एक सीमा तक यह अनुचित भी नहीं है। हमें अपनी लिप्साओं पर कहीं न कहीं लगाम भी लगानी पड़ेगी।

इन्द्र जी ने अपने लम्बे साहित्यिक जीवन में यही चाहा है कि ऐसा कुछ न लिखें, जो इन्हें असम्मान, उपहास या तिरस्कार का पात्र बनाये। 'सम्मान' इनकी दृष्टि में पाठकों और श्रोताओं से मिलनेवाले साधुवाद अथवा प्रशंसन/प्रसादन से अधिक कोई अन्य मूल्य नहीं रखता, फिर भी यदि कभी पत्रपुष्य के रूप में किंचित मानदेय अथवा पारिश्रमिक या आर्थिक पुरस्कार मिल जाए तो ये उसे और विनम्रता-पूर्वक स्वीकार करते हैं। उसे पाने के लिए कोई सौदेबाजी, करुहुज्जती अथवा भाग-दौड़ और जोड़-तोड़ बैठाने से इन्द्र जी सदा परहेज करते हैं। विश्व-विद्यालय के सेवा-काल और तत्पश्चात् वेतन अथवा पेंशन के रुप में दाल-रोटी चलाने के लायक जो मिलता रहा है इन्होंने उसी पर संतोष किया है। रुपये-पैसे के भारी भरकम लिफाफे पाने के स्थान पर इन्होंने सम्पादकों, समीक्षकों, रसज्ञ और काव्यमर्मी श्रोताओं/पाठकों से मिलने वाली प्रशंसा को ही प्राथमिकता दी है। कारण-अकारण और समय-असमय का विचार किये बिना 'इन्द्र' जी ने कमी अपनी काव्य-प्रतिभा का प्रचार या प्रदर्शन नहीं किया। यही कारण है कि

इनके आवासिक कक्ष में सम्मान पुरस्कार पाने, अवसरों के चित्र प्रशस्ति-पत्र और फ्रेम में मढ़े हुए अभिनन्दन पत्र कम से कम ही दिखाई देते हैं।

किशोर-काल या छात्र-जीवन में जब कभी किसी काव्य-प्रतिस्पर्धा में भाग लिया तो इन्हें प्रायः प्रथम स्थानीय सम्मान ही मिला। एक बार पाँच-हजार रुपये, दो बार पाँच-पाँच सौ रुपये और अभी पिछले दिनों उत्तर-प्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ से 'साहित्य-भूषण' सम्मान प्राप्ति के उपलक्ष्य में पचास हजार रुपये का चैक इनके पचपन वर्ष की साहित्य-साधना की आर्थिक उपलब्धि कही जा सकती है। जिसे ये न 'न्यून' कहते हैं और न ही 'पर्याप्त'। कभी आगरा विश्व-विद्यालय से 'ब्रज-वैभव' सम्मान भी मिला था।

'इन्द्र' जी ने जैसा कि प्रारंभ में संकेत किया है- ''मेरा उद्देश्य तो साहित्य-साधना रहा है। ये कभी मान-सम्मान पद-पुरस्कार पाने की नीयत से एक शब्द भी नहीं लिखते हैं। संतोष और आत्म-सम्मान से बड़ा कोई सम्मान नहीं हो सकता।

वैसे तो देवेन्द्र जी के सम्पूर्ण कृतित्व को व्याख्यायित करना इस सीमित प्रबंध में संभव नहीं है, किन्तु फिर भी उनके रचना-संसार के वैशिष्ट्य को समझने के लिए उनकी प्रमुख काव्य-कृतियों का परिचात्मक विवरण जान लेना आवश्यक है। अतः उनकी कुछ विशिष्ट कृतियों के परिचय यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

चुप्पियों की पैजनी

लोक प्रकाशन दिल्ली से सन् 1988 में यह कृति देवेन्द्र शर्मा इन्द्र के कुछ विशिष्ट नवगीतों को प्रकाश में लाती है। देवेन्द्र जी का यह गीत-पड़ाव एक ऐसे केन्द्र पर स्थापित हुआ है, जहाँ उन्होंने नवगीत लेखन के क्षेत्र में अपना वर्चस्व कायम कर दिया। नवगीत के क्षेत्र में देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' जी की अपनी एक अलग पहचान है।

'चुप्पियों की पैजनी' शीर्षक नवगीत में कवि गीत संकलन की प्रस्तावना के रूप में पुनः कुछ अपने बारे में, कुछ इन गीतों के बारे में और कुछ दोनों के बहाने अपने समकालीन गीतकारों और नवगीत के बारे में अपनी बात कहने के लिए अपने कविता प्रेमियों के सम्मुख उपस्थित है। कवि के शब्दों में - ''क्या कहूँ समझ नहीं पा रहा ? गूंगे पन की हद तक चुप्पी साध लूँ, यह भी मुमकिन नहीं है।'' कविता और गीत का जन्म भी कदाचित् इसी प्रकार की मनः स्थिति के भीतर होता है। जब हम चुप रहना चाहते हैं तभी हमें कुछ कहना पड़ता है और जब कह चुकने के बाद उस पर सोचते हैं तो लगता है जैसे

हमने वह कुछ नहीं कहा – जिसे हम कहना चाह रहे थे। शायद इसी 'अविवक्षितवाच्य' स्थिति का नाम है कविता या गीत। कविता चुप्पी का ही पर्याय है और जब सन्नाटे के आंगन में उसकी अश्रुत–पैजनियाँ खनकने लगती है तभी जन्म होता है गीत या नवगीत का।

रचनाकार जिस समाज में उत्पन्न होकर अपने भीतरी और बाहरी व्यक्तित्व को गढ़ता है, उस व्यक्तित्व पर उस समाज की बहुविध परिस्थितियों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता ही है। समाज का एक उत्तरदायी नागरिक होने के नाते जितना वह अपनी परम्परा के प्रति कृतज्ञ होता है, उतना ही अपने समसामयिक यथार्थ के प्रति जागरुक, संवेदनशील और कर्तव्यनिष्ठ भी। ऐसी स्थिति में हर प्रबुद्ध रचनाकार की सर्जना की उंगलियाँ अपने वक्त की नब्ज को पकड़ने की कोशिश करती हैं।

साहित्य का कथ्य युगसापेक्ष होता है। नवगीत से भी यही अपेक्षा की जाती है कि वह अपने युगीन सत्य को अधिकाधिक कलात्मक सौन्दर्ययुक्त किन्तु सहज शैली में प्रस्तुत करें। गीतकार समय की सच्चाइयों का शंखधर हो तत्पश्चात् विगत युग के मूल्यों का रक्षक और अनागत का शुभचिंतक।

इन नवगीत में कवि का आत्मंथन का स्वर प्रदर्शित होता है। कवि लड़ते–लड़ते टूट गया, लेकिन लालच, बेईमानी से समझौता नहीं किया। जीवन–युद्ध में अकेला रहकर भी आशा का दामन नहीं छोड़ा उत्साह और आन्तरिक शक्ति को संचित कर जीवन–साधना करता है–

"सुन रे मन
एकाकी यायावर
भीड़ों का हमसफर नहीं है।
युद्ध में अकेला लड़
होकर भी निःसाधन
कर अपने भीतर तू
शक्ति का समाराधन।"[5]

इन्द्र जी ने अपने इन नवगीतों में टूटते मूल्यों का सिलसिला एवं विखरती जिन्दगी के आभास को व्यक्त किया हैं। कवि मन की बात को सहज, सरल भाषा में व्यक्त करते हैं। उन्हें शोषित, प्रताड़ित व्यक्ति की टीस सालती है। उन्हीं के शब्दों में–

"हम कहाँ–कहाँ नहीं गये

पग–पग पर साथ रहा डर।
मिली नहीं कोई वस्ती, कोई गाँव
जहाँ पर न ठिठके ये बंजारे पाँव
रेतीले टीलों के भूरे फैलावों में
रची रही प्राणों पर कस्तूरी छाँव
एक चील–सी चुप्पी
मँडराती है
फैलाकर अधझुलसे पर।''[6]

मदमाते, मौज उड़ाते, भरते–झरते मेह सभी का मन मोह लेते हैं। प्रकृति का सौन्दर्य किसे प्रभावित नहीं करता। यहाँ कवि ने प्रकृति के उद्दीपन भाव और कविता का सौन्दर्यवादी अभिगम प्रस्तुत किया है–

''घिरे कहीं
तिरे कहीं मेह
भरे कहीं
झरे कहीं मेह।
फूलों के अँग–अँग में
आग लगी है
पातों के होठों पर
प्यास जगी है।''[7]

इन्द्र जी के इस नवगीत में वर्तमान के मुक्त–भोगी मनुष्य के जीने की विवशता के साथ ही सबकुछ सहने की बाध्यता को दर्शाया गया है। कवि की वाणी मानव हृदय को छू जाती है–

''कोयल री
तुझको तो गाना ही होगा
पिंजरे का मोल तो
चुकाना ही होगा
माना
तू बिछुड़ी है
नीड़ से

ये सब तेरे स्वर के प्यासे हैं
बदली बिन सूखे चौमासे हैं
तेरे
सारे संगी
गा चुके
पर्दे के पीछे वे
गा-गाकर
चुपके से जा चुके
खिलकर सब कुछ बिखर जाते हैं
लोक बहुत जल्द भूल जाते हैं।''[8]

रचना करते समय कवि का हृदय मानवीय संवेदनाओं एवं आत्म-बोध की अनुभूतियों को लेकर कल्पनाकाश में उड़ जाता है और जब धरती पर उतरता है तो उसकी रचनायें जनमानस को इतना प्रभावित करती हैं कि पाठक पढ़ते-पढ़ते कवि की रूह में समा जाती हैं-

''छोटा कह कर इतनी मत करो उपेक्षा
काम हमीं आये कल क्या पता ?
माना यह
आपकी जमात में
हम कहीं नहीं है
श्रेय यहाँ
मिलता जिस लब्धि को
हम वही नहीं है
माटी के साधारण पुतले है तो क्या
हम से हो जाय कुछ भी खता।
बदले में की है कब न्यूनतम अपेक्षा
शायद हम है शापित-देवता।''[9]

कवि जीवन भर संघर्षों से जूझता रहा। पीड़ा उसके जीवन का अनिवार्य अंग बन गयी। पीड़ा एक ऐसा भाव है जिससे प्रत्येक व्यक्ति का तादात्म्य सहज ही हो जाता है। हर्षोल्लास की स्थितिया विरल है, इनकी कविता-वल्लरी भी दर्द के जल में पल्लवित और

विकसित हुई है। इस आपाधापी में कौन किससे अपने मन की बात कहे, इसलिए कवि को इन सब रिश्तों में दुःख ही केवल सगा लगता है-

"जितनी ठिंगनी खुशियाँ हैं
उतनी ही व्यथा बड़ी है।
काल के अछोर जाल में
क्षण-जैसी मछलियाँ फँसी
गंधों के भुजपाशों में
रंगों की तितलियाँ फँसी।"[10]

इन्द्र जी के पास अति समृद्ध बिंब-निर्माण-क्षमता एवं एक विशाल अनुभव संपदा है। वह लफ्जों की रुहों में उतर अंतस् के संसार की गहन पीड़ा से रची-बुनी इस दुनिया को स्नेह से भीगी आत्मीयता के साथ ही अतीत की कहानी और आत्म गौरव का एहसास कराते हैं। कवि के शब्दों में-

"मेरी शवयात्रा के हमसफर रकीबो
आँखे भर-भर कर यों मत मुझे निहारो।
नामुमकिन लौटना यहाँ से
छोड़-कर तुम्हें मैं इस पार चला आया
दूर-दूर तक यहाँ न कोई
लहराता जीवन का बदरीला साया
सिर्फ मरुस्थल में बजता सन्नाटा
और मत लुभाओं उस पार की बहारो
कल तक मैं गीत था समय का
आज हुआ गुजरे वक्त की कहानी
मुट्ठी भर राख जो बची है
रख लेना समझ इसे आखिरी निशानी
मैं अगली पीढ़ी के कंठ में उगूँगा
शोक-सभाओं में मत आरती उतारो।"[11]

वर्तमान जीवन की विसंगतियों एवं दुर्व्यवस्थाओं पर चोट करते हुए कवि का स्वर-

"लगता अब

धूप नहीं निकलेगी
जमी हुई
बर्फ नहीं पिघलेगी।
मौसम यह
धुरीहीन पहिये-सा
ठहरा है
साँसों में
भय कोई, उतर रहा
गहरा है
खुद को तो
बदल लिया हमने
जाने कब
दुनिया बदलेगी ?''[12]

आज सम्पूर्ण विश्व व देश में आतंक एवं अपराध का बोलबाला है लोग अपने घर में भी सुरक्षित नही रह गए हैं। तभी तो कवि ने अपने इन नवगीतों में भयातुर व्यवस्था का पर्दाफाश किया है-

''पीछे-पीछे चलते कुछ सवाल मेरे
जासूसी करते-से उजले-अँधेरे
जलती रहती है आँखों में
टूटे तारों की
शहतीर
पल-पल चुभती है कानो में
साँसों से जकड़ी
जंजीरें
छाती पर तनी हुई खूनी संगीनें
पाँवों से लिपटे है दशहत के घेरे।
भेड़ियों-सियारों के बसे यहाँ टोले
कहाँ गये हिरनो, खरगोशों के फेरे ?''[13]

'चुप्पियों की पैजनी' इन्द्र जी के नवगीतों का एक अजीबो-गरीब संग्रह है। इसमें कुछ परम्परा है, कुछ नया है, कुछ अपना है, कुछ पराया है, कहीं अगूढ़ है तो कहीं गूढ़ातिगूढ़ है। भाषा की दृष्टि से इनके गीतों में सर्वाधिक नये प्रयोग है। उर्दू-शब्दावली और उर्दू-संस्कार को यहाँ अधिकता से ग्रहण किया गया है। 'इन्द्र' जी के इस नवगीत में झूठे संवाद और थोथे आश्वासन का स्वर दिखाई देता है-

''मुद्दा है
आज की
बहस में
बुलबुल क्यों कैद है कपस में।
इस पर तोहमत यही लगी है
यह नीले फलक की सगी है।
रेतीले
झील में
नहाकर
खाती है बादल की कसमें।
मैं भी इजलास में खड़ा हूँ
धड़ तक मैं कीच में गड़ा हूँ।''[14]

देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' जी के नवगीतों में सफेदपोश नेताओं तथा समाज के अग्रगण्य सुधारकों का असली रूप देखने को मिलता है। राजनेताओं के दोहरे चरित्र तथा बहुरुपियन पर कटाक्ष करते हुए कवि का स्वर-

''दिखते जो दूध से धुले हैं
हंस नहीं है वे, बगुले हैं।
पानी में
एक पाँव के बल
खड़े हुए
दम साधे पल-पल
ग्राहक वे नहीं मोतियों के
मछली को लीलने तुले है।
भक्तों जैसी

इनकी सूरत
गढ़ती है
लोभ की मुहूरत
रचते ये व्यूह
रोज छल के
चलते हैं-
पैंतरे बदल के।"[15]

वर्तमान परिवेश, हिन्दी की दुर्दशा और नैतिक पतन से कवि व्यथित है। इसी व्यथा के समापन के लिए कवि हिम्मत और विश्वास का माहौल बनाता है-

"रोता तू उम्र भर रहा
हँसने की कोशिश भी कर।
सिर पर जो लटकी तलवारें
उनको तो गिरना ही है
साहिल से भटकी कश्ती को
भँवरों से घिरना ही है
बस्ती ने है
तुझे उजाड़ा
चल कब्रिस्तानों में
बसने की कोशिश भी कर।
उड़ते है धुए के बवण्डर
खुशबू का मोल कौन आँकता
गर्दन पर चलती हैं आरियाँ
माना तू है चन्दन की लता
इन विषघर नागों को
डँसने की कोशिश भी कर।"[16]

यजि जीवन में संकल्प है तो किसी भी व्यक्ति के लिए कुछ भी असंभव नहीं है। संकल्प-भाव से समाहित रचनायें प्रेरणादायक होती हैं, जन-मानस में नवोत्साह का संचार करती हैं तथा निरन्तर अग्रसरित होने के लिए सम्बल प्रदान करती हैं। इसी संदर्भ में कवि का दृष्टिकोण कितना आशावादी और उत्साहवर्धक है-

"मौसम-बेमौसम जो
दिखलाते त्योरियाँ
हम उन आकाशों पर सुरधनु बन छायेंगे।
जिनके अहसानों से
सिर ये झुक जाये
मन के संकल्प का
पौरुष चुक जाये
रीति है खुद जिनके
कोष की तिजौरियाँ।
हम उनकी ड्योढ़ी पर माँगने न जायेंगे।
हमने तो चक्खी है
नीम की निबौरियाँ
आँधी में गिरे हुए आम हम न खायेंगे।"[17]

देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' के इन नवगीतों में वर्तमान अवमूल्यित आदर्श, विकृतियों, मानवीय अस्मिता का विघटन और टूटते विश्वास का क्रम समाविष्ट है। इस नवगीत में कवि अपने समय के तनाव, संघर्ष, अव्यवस्था, अतीत की स्मृतियाँ व्यक्त करता है-

"कल तक तो हम भी थे आदमी
आज हम मशीन हो गये हैं।
कौड़ी के तीन हो गये हैं।
गाने को तो अब भी गाते हैं
जीवन के गीत नहीं मर्सिये
आँगन चौपाल से उठाकर
दूकानों पर सपने रख दिये
कल तक तो थे हम जल के कमल
रेती के मीन हो गये हैं।"[18]

कवि अपने इस नवगीत में व्यक्तिगत आत्म-विश्वास को जो आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करता है, दर्शाया है-

"यहाँ-वहाँ ताक क्या रहा
तू अपने दिल के आईने में झाँक तो सही।

दुनिया के शीशमहल के आगे
यो खड़ा न हो
औरों के कन्धों पर चढ़कर तू
यो बड़ा न हो
आसमान छूने के स्वप्न रहा देख
पानी पर खींच रहा पगले तू लेख।''[19]

यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि वक्त एक स्थान पर कभी नहीं रुकता, वह सर्प की भाँति धीरे-धीरे खिसकते जाता है और अपने पीछे यादों की केंचुली छोड़ जाता है। जाते-जाते भूली-बिसरी बातों को वर्तमान कर जाता है-

''वक्त
साँप-सा सरक गया
यादों की छोड़ केंचुली
पाखी-से उड़ गये सपने
भोर हुए
आँख जब खुली
दुहराता सुने मेंमना
भूली-बिसरी कल की बातें।''[20]

प्रकृति मुख्यतः मानवीय भावनाओं की पृष्ठभूमि का ही आधार स्तम्भ रही है, तथापि कभी-कभी वह अपने स्वतंत्र-रूप से भी हमारे सम्मुख आती है। इसकी स्वतंत्रता ही सौन्दर्य का परिचायक है कवि यहाँ प्रकृति का सौन्दर्यवादी बिम्ब प्रस्तुत करता है-

''थक गये फिर
घूमते रथचक्र
ऋतुओं के।
उड़ चले ये गन्धमादन के शिखर
आँजुरी से फूल ज्यों जाते बिखर
चाँदनी में
हिल रहे हैं गाछ
महुओं के।''[21]

कवि के इस नवगीत में ठंड की ऋतुओं का प्राकृतिक सौन्दर्य प्रतिबिम्बित है-

"रात मीलों-सरीखी
दिन हुए
दो गज के।
चल रहे
ठण्डी हवा के
तेज आरे
बुरादों-से
झर रहे
हिम खण्ड सारे।"[22]

व्यवस्था और राजनीति का जाल इतना फैला चुका है कि वह टूटने के वजाय सतत अग्रसर होता जा रहा है और साथ ही वैचारिक प्रदूषण फैला रहा है। भ्रष्ट राजनीति पर कवि के प्रहार का स्पष्ट चित्रण इन पंक्तियों में मुखरित है-

"कल जब तुम आओगे
मेरा प्रतिरूप देख उससे घबराओगे
आसन पर और किसी को बैठा पाओगे
कल जब तुम आओगे।
भीड़ तो यही होगी
मालाएँ लिये हाथ
स्वस्तिमंत्र, जय निनाद
लोगों के साथ-साथ
महफिल में, गद्गद हो तुम भी दुहराओगे
यो अपनी करनी पर, तिलभर पछताओगे।
अब मेरी चर्चा से मान भी कमाओगे
सागर-से उठकर तुम नभ से हो जाओगे।"[23]

बिम्ब मन के अगोचर और अमूर्त भावों को मूर्त करने के उपकरण है। बिम्ब व्यापार कवि की कारयित्री प्रतिभा की उपज है। वे बिम्बों में सौन्दर्य की ताजगी, रोमानी महक और समकालीन परिवेश-सम्बन्धी समग्र भाव-चित्रों के संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत करने में सक्षम है। बिम्बों की दृष्टि से उदाहरण प्रस्तुत है-

"सूरज ने

कलियों पर भारी
सात रंग वाली पिचकारी।
दखिन पवन के मादक झोंके
हौले से नींद मे मसल गये
फिर काँरी कदली की देह।''[24]

यहाँ कवि प्रकृति का मनमानस बिम्ब सहज रूप में प्रस्तुत किया है–

''रीत गये रँगभरे भगौने
बीत गये दिन वे मिठलौने।
यहाँ–वहाँ
ठहरी पद–चापें
कन्दीलें
पानी पर काँपें
यादों के आँगन में
बजते कुछ काठ के खिलौने।
पेड़ों के माथे पर
चिपके है धूप के दिठौने।''[25]

मानवीय संवेदनाओं और वेदना का विशिष्ट संगम 'इन्द्र' जी के गीतों में एख ऐसी करुणा, उदासी और दर्द भरी शिकन को उभारने में सफल हुआ है कि 'दर्द को दे दिल में जगह 'नासिख' इल्म से शायरी नहीं आती' वाली उक्ति मन को तरल कर उठती है। उनके गीतों का भाव इसी मानवीय करुणा के सूत्रों से बुना हुआ प्रतीत होता है 'इन्द्र' जी की ये पंक्तियाँ देखें–

''नदी है
चाहे जहाँ से
मोड़ दो
रेत पर बहने
अकेला
छोड़ दो।''[26]

'इन्द्र' जी के इस नवगीत मानवीय आत्म–क्षरण और असंतोष के स्वर द्रष्टव्य होता है–

खुद से रहता कटा-कटा
जब से तू भीड़ से जुड़ा।
आसमान में पतंग-सा
रहता है तू उड़ा-उड़ा।
क्यों अपनी नींव से उखड़
ढोता औरों की दीवार को
करता सबकी जय-जयकार
गर्दन में लटकाकर हार को।''[27]

देवेन्द्र जी की कविता नारेबाजी से दूर है किन्तु समाज की विषमताओं, विसंगतियों और शोषण की राजनीति पर चोट करती है। किन्तु उसमें कटुता और पश्चाताप की ध्वनि भी है। पराजय का बोध नहीं है, किन्तु अपनी व्यक्ति केन्द्रित अस्मिता के स्थापन का आत्माभिमान है। इन्द्र जी के शब्दों में-

''दिन में चमगादड़ को
सूझता
सूरज तो सूरज है
उसकी कोई खता नहीं।
स्वर्णांकित अपनी यात्राएँ
सूरज को खुद पता नहीं।
वह स्वयं प्रकाश-पुञ्ज है
माँगेगा मान्यता नहीं।''[28]

निम्नलिखित पंक्तियों में आत्म-मंथन के स्वरों में वक्तों की विभीषिका का चित्र अंकित है-

''जो भी है पास हमारे
सब कुछ है नाम तुम्हारे।
थी मिली विरासत में यह फाकामस्ती
जिन्दगी बड़ी मँहगी और मौत सस्ती
फूलों की सरहद पर पत्थर की वस्ती
कंधों पर ढोने को काँच की गिरस्ती।''[29]

देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' की इस नवगीत में समाज की अव्यवस्था तथा निर्धनता में टूटते आदमी का चित्र एवं व्यथा कथा अंकित है। कवि निर्धनों के प्रति संवेदनशील है। वह उनकी उपेक्षा भरी जिन्दगी एवं संघर्षमय जीवन से आहत है। इस संदर्भ में ये पंक्तियाँ जैसे अंतःकरण से स्वतः फूट पड़ी है-

''बन्द हुए घर के खिड़की द्वारे
पहरे हैं अगवारे, पिछवारे
जाल बँधी
हिरन-सी
डरी-डरी रामकली।
बरसों बीते, कोई वर न मिला
राम ! कली पत्थर की हुई शिला
सावन में
रीति जल की
गगरी रामकली।
रात दिवस सुनते सबके ताने
जनमी किस अशुभ घड़ी में जाने
आखिर कल
छत पर से
कूद मरी रामकली।''[31]

अन्याय और अत्याचार का दौर मानव-मन को आतंकित कर दिया है, भयभीत कर दिया है। इसके आतंक से आज समाज का प्रत्येक व्यक्ति क्षतिग्रस्त हो रहा है। व्यवस्था का जहर इतना फैल चुका है कि कवि को यह कहने के लिए बाध्य होना पड़ता है-

''दिन में ही घनी हुई
रात की अँधेरी
गलियों में घुस आये
लुटेरे, अहेरी।
हाथों में लाठी है, चाकू हैं, भाले हैं
चेहरे पर मजहब का ये नकाब डाले हैं

सच है यह, बहम नहीं
इनमें है रहम नहीं
काँटेंगे गर्दन ये–
मेरी या तेरी।
हर सपना डूबा है चीख और आँसू में
भूँक रहे श्वान, साँड़ झूम रहे कर्फ्यू में
साँसों में दहशत है
नाच रही वहशत है
सेना के आने में
लगी बहुत देरी।''[32]

निम्नलिखित पंक्तियों में फिर अन्याय एवं अत्याचार के दहशत और टूटती व्यवस्था की व्यथा की कथा व्याप्त है–

''जी रहे हम इन दिनों
मौसम फिसादों के।
फिजाओं में
तैरती
खामोश अफवाहें
अँधेरों में
गुम हुई
दहशजदा राहें
जल रहे घर आग में
कागज बुरादों के।''[33]

समय परिवर्तन के साथ बदलते जल्लाद और न बदलती व्यवस्था एवं अत्याचार के प्रति कवि का क्षोभित मन चित्रित हैं–

''मकतल वही
वही फंदे हैं
बदल गये जल्लाद
सब कुछ वैसे का वैसा है
पाँच बरस के बाद।

चुप्पी है, बूढ़े सितार हैं, मिजराबें हैं
उखड़े दरवाजे हैं, गिरती मेहराबें हैं
ढ़हती दिवारों से झरते हुए पलस्तर
आँगन में उदास बतियाते टीन कनस्तर
गर्दन वही
वही शमशीरें
बदल गये सय्याद।''[34]

आज महानगरिय जीवन की व्यस्तता में मानव-प्रेम के कोमल संबंध निरर्थक हो गए हैं। नफरत की आग में रिश्तों के पौधे झुलस गए हैं। मनुष्य विश्वास का दीप लिए जितना आगे बढ़ता है, उतना ही संशय का अन्धकार उसे पीछे खींच लेता है। मानव संबन्धों में इसी तनाव को देखकर कवि उसका विकल्प खोजता हुआ कहता है कि रिश्तों की अनौपचारिकता को टूटने से बचाने के लिए कम से कम बातचीत की औपचारिकता से सम्पर्क बनाए रखें। स्वच्छन्द सोच की हिमायत करते हुए कवि कहता है-

''चाहों तो बन्द रखो रिश्तों के दरवाजे
बातचीत की खिड़की
खुली हुई रहने दो।
तुमने जो, कहना था
सब कुछ तो कह डाला
हमने भी खोल दिया
होठों पर का ताला
हमें आत्मरक्षा में
कुछ भी तो कहने दो।''[35]

इन्द्र जी के निम्नलिखित नवगीत में पश्चाताप को स्वर तथा आत्मघुटन की एहसास का चित्रण है-

''डूब रही भँवरों में नाव
धारा का तेज है बहाव
घिसी हुई
लगी है
धुन खाये पाल

काँप रहा मन

सुनकर

लहरों का शोर

साथ-साथ बुनती हर साँस

जीने औ' मरने के भाव।''[36]

साहित्य, कविता, गीत या नवगीत के सन्दर्भ में जिस 'मौलिकता' की बात की जाती है वह वस्तुतः उतनी कथ्य-सापेक्ष नहीं होती जितनी कि शिल्पसापेक्ष। श्रेष्ठ कला-कृतियों के भीतर यह पारदर्शकता स्वभावतः ही रहती है जो अपने एन्द्रिय-सन्निकर्ष से द्रष्टा को भी पारदर्शी बना देती है, अथवा कला के शीशमहल में खड़ा होकर उसका भावक अपनी भावना के अनुसार अपने 'भावातीत अनुभव' तक पहुंचने में सफल हो पाता है।

आज नवगीत की परिधि में हिन्दी के उन्हीं गीतों को लिया जाता है जो इधर के चालीस वर्षों के आयाम में लिखे गये हैं और जो छायावादी रहस्यवादी तथा प्रगतिवादी-प्रयोगवादी गीतों से भिन्न प्रकार के हैं। नगर अथवा महानगरों की जिन जीवन स्थितियों को इस गीत में स्वायत्त किया गया है उन्हें भी पूर्णतः भारतीय संदर्भों में। आज जो अकेलापन, अजनबियत, व्यर्थताबोध हताशा, दहशत, अस्मिता की खोज, आतंक और मृत्युजन्य अवसाद हैं, इस नवगीत में लक्षित होता है।

कुहरे की प्रत्यञ्चा

राजेश प्रकाशन दिल्ली से सन् 1979 में प्रकाशित यह कृति देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' के कुछ विशिष्ट नवगीतों को प्रकाश में लाती है। 'पथरीले शोर में', 'कालजयी' और 'पंखकटी मेहराबे' के क्रम में 'कुहरे की प्रत्यञ्चा' इनकी चौथी प्रकाशित काव्य-कृति है। 'कुहरे की प्रत्यञ्चा' की भूमिका के माध्यम से इन्हें एक बार पुनः साहित्य, कविता, गीतिकाव्य अथवा नवगीत को परिभाषित करने का अवसर मिला। वस्तुतः ये सभी काव्यरुप जड़-चेतन-जगत् में अनुस्यूत किसी कालातीत सत्य को अधिक से अधिक सुन्दर और कलात्मक शिल्प के द्वारा प्रस्तुत करते हुए शिवत्व को उदात्त और अवदात शिखर पर समासीन करने का प्रयास करते हैं। जिस रचनाकार के बहिरन्तर व्यक्तित्व और चिन्तन में सत्य, शिव और सुन्दर का जितना समाधिक संघात होता है, उसकी रचना उतनी ही गुणोपेत और निर्दोष होती है।

'नवगीत' कथ्य और वस्तु के क्षेत्र में जितना 'नयी कविता' की सहयात्री है, उतना ही अपनी अन्तर्वर्ती-रागात्मक-लयवत्ता और संवेदना के स्तरों पर पारम्परिक-गीतधारा से जुड़ा हुआ है। न उसने अत्याधुनिक के नाम पर साहित्य की हाट में कोई 'अजूबा' खड़ा किया है, न परम्परा-संरक्षण के बहाने मृत-रुढ़ियों का प्रतिमा-पूजन। उसकी अपनी भाषा और अपना निजी मुहावरा है। नवगीत ने न तो किसी लक्ष्यातीत-पारगामी सत्य के अन्वेशन का दंभ किया है। और न भोगे हुए यथार्थ के चित्रण या आम आदमी की तलाश में उसने काफी-हाउसों की अर्थहीन बहसों में शिरकत की है। वह रचनाकार की एकनिष्ठ साधना होकर भी स्वयंभू-प्रगतिशीलों या जनवादियों की तुलना में कहीं अधिक लोकसम्पृक्त रहा है।

रचना अपने मूल में रचनाकार का नितांत निजी अनुभव या अपने आस-पास से सीधे साक्षात्कार का परिणाम होती है। किन्तु अभिव्यक्ति तक पहुँचते पहुँचते वह अनुभव या साक्षात्कार व्यक्तिवादी मनोविलास की अभिव्यक्ति न होकर समाज के मन की चिन्ता, छटपटाहट और कभी-कभी हर्ष, उल्लास भी बन जाती है। आज आक्टोपस संस्कृति अपनी विविध रुपाकारों वाली टहनियों से अभिव्यक्ति और समाज को अपने घेरे में लेने को प्रयत्नशील है। ऐसी स्थिति में अस्तित्व और अपनी अस्मिता को बचाए रखने के संघर्ष को यदि कुछ सार्थक नाम दिये जा सकते हैं तो उनमें से नवगीत भी एक है।

नवगीत इस देश की माटी में रचा-बसा वह दायित्वाभिमुख गीत-काव्य है, जो व्यवस्था से जूझता भी है, युद्ध और साम्प्रदायिकता का विरोध भी करता है तथा सामाजिक, राजनैतिक उत्पीड़न का पर्दाफाश भी करता है। नवगीत किसी भी स्तर पर सामाजिक पलायन का समर्थक नहीं है।

'इन्द्र' जी के इन नवगीतों में वृहद-इन्द्र-जाल के परिपार्श्व में उभरने वाला वैयक्तिक एवं सामाजिक अवसाद, हताशा, उत्पीड़न और पुनर्रचना का संकल्प सन्नाटे में गूँजती-लरजती प्रतिध्वनियों की भाँति सुनायी पड़ता है। यह अवश्य है कि वे प्रतिध्वनियाँ किसी प्रकार की राजनैतिक ध्वनियों की प्रत्यञ्चा से निकले हुए वाणों की तरह बेधक नहीं है।

इस संकलन की (एक-दो के अतिरिक्त) लगभग सभी रचनाएँ किसी न किसी पत्रिका में प्रकाशित हो चुकी है- विशेषकर 'सरस्वती', 'नागरी पत्रिका', 'आज-कल', 'मधुमती', 'नईधारा', 'अनन्या', 'ऋतुचक्र', 'मुक्तकंठ' और 'सांध्यमित्रा' में.

प्रकृति व्यक्ति के हास-परिहास, रोदन-क्रंदन, दुःख-सुख की गवाह बन गई है। काव्यों में उद्दीपन का महत्व है ही जिसे प्रकृति पुष्ट करती है। भारतीय समाज और संस्कृति का प्रारुप विविध रुपों, रंगों में दिखाई पड़ता है। इन्द्र जी के प्रारम्भिक नवगीतों में जो संवेदनात्मक आवेगों की अभिव्यक्ति देखने को मिलती है, वह उनके व्यक्तित्व से जुड़ी है। वे अपने परिवेश के प्रति बहुत ही सजग एवं निष्ठावान बने रहे हैं। कवि सामाजिक गिरावट, पिछड़ेपन, विसंगतियों, शोषणों अभावों को मात्र देखता-पहचानता ही नहीं, उसका सहभागी एक हिस्सा भी होता है। परिवेशीय, सामाजिक दबाव अभाव इन्द्र जी के सम्पूर्ण लेखन में दिखाई पड़ता है। परिवेशगत दबाव उनकी रचनाओं में स्वयं ही उद्धृत हुआ प्रतीत होता है। निम्नलिखित काव्य पंक्तियाँ भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक गिरावट पिछड़ेपन, विसंगतियों, अभावों के परिदृश्य की सच्ची मिशाल है और 'एक वर्ष कविता' का प्रारम्भ ही इस प्रकार करते हैं-

''जालों-सी
तालों में फैली
मटमैली नम किरणों को
चीते की
चितकबरी आँखों-से
घबराये हिरनों को।''[37]

कवि नगरीय जीवन के आचरणों का व्याकरण रचने के हेतु आवरण हटाते हुए कह उठता है-

''पथ-भीड़ों पहचानों को
व्याकरणों
आचरणों
आवरणों के इस शहरीपन को
भूख-प्यास
हास-नाश
संशय-संत्रास जड़ित जीवन को।''[38]

प्रकृति के आवरण हटाता नये-नये संदर्भों में कवि कहता है-

''कुछ अनुभव जोड़ कर
नये-नये संदर्भों के संकुल गर्भों में छोड़कर

नटखट शैतान–सा

दूध के उफान–सा

नीले तूफान–सा

आया था

चुपके से गुजर गया

और एक गत वर्षों जैसा यह साल।''[39]

उपर्युक्त पंक्तियों में देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' जी वर्ष भर का सिंहावलोकन तथा मूल्यहीनता का दौर प्रस्तुत करते हैं साथ ही इसमें नये वर्ष की एकदम नई प्रस्तुति अभिनव शैली भी व्यक्त है।

'इन्द्र' जी के नवगीत में कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में एक दिव्य चेतना विद्यमान है। वह उपजी हुई होती है। कवि का अनुभव ही कविता को जीवन्त एवं प्रामाणिक बनाता है। 'इन्द्र' जी के नवगीतों में भी उनका अनुभव दृष्टिगत है। प्रकृति चित्रण का एहसास उनके अनुभव की प्रच्छाया है। कवि अपनी रचनाओं के माध्यम से अमूल्य श्रमिक जीवन को साकार कर पाने में सफल हुआ है। कवि दृष्टा होने के नाते उपेक्षित जनसामान्य वर्ग की फटेहाली और संघर्षमय जीवन को चित्रित कर संतुष्ट होता है। 'साँझ की सहमी थकन' नवगीत में घर लौटने की अभिलाषा से कवि 'इन्द्र' जी गा उठते हैं–

''भोर की पहली किरण घर लौट आ,

साँझ की सहमी थकन घर लौट आ

झुक गये

ओ प्रवासी के सृजन घर लौट आ

औ उदासी के विजन घर लौट आ।''[40]

यहाँ कवि सूर्य से आलम्बन ग्रहण करता है।

''साँझ के चंपक–पगों से

टूट बिखरी

झनझनाकर कर पैजनी।''[41]

उपरोक्त पंक्तियों में कवि आज के भागम–भाग जिन्दगी से परेशान व्यक्ति को टूटे और थकेपन का एहसास कराते हुए, उसे घर लौट जाने का संदेश देता है।

निम्नलिखित पंक्तियों में कवि ने अपने पत्नी के वियोग का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है कवि अपनी पत्नी से अगाध प्रेम करता है, उसकी सुधि उसे हर पल आती है, नींद में भी वह उसी को देखता है अपनी पत्नी के वियोग में सारा सुख उसे व्यर्थ लगता है। इसी वियोग की उद्विग्नता तथा स्मृतियों के विमाद का प्रस्तुतीकरण–

''जो न लाई हो तुम्हारी याद
कौन–सी वह भोर की थी रश्मिलेखा
कौन–सी वह रात थी
जब स्वप्न में तुमको न देखा
कौन ऐसा क्षण अभागा था
हुई जब सुधि तुम्हारी प्राण से निस्पन्द
कौन–सा वह सुख
न जो लगता अधूरा, बिन तुम्हारे
कभी वह भर न पाया
एक खालीपन
छाँह–सी अनुवर्तिनी
समभागिनी दुःख की
समर्पण, विश्राम, ब्रीडाएँ
हरसिंगारों से महकता दुधमुँहा आँगन।''[42]

अपने स्वर्णिम आनंद का उद्रेक करने वाली विगत की यादें कवि को याद आ रही हैं। हर–सिंगारों से महकता आँगन अब नहीं रहा। अपनी जीवन संगिनी निर्मल प्रेम की अधिष्ठात्री की स्मृति को संजोये हुए हैं।

देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' ने इन नवगीतों में प्रकृति के सौन्दर्य का जीवन्त, अलंकारपूर्ण तथा हृदयग्राही वर्णन किया गया है। मानव के आन्तरिक मूल्यों का संबंध उसकी मानसिक मनोदशा से जुड़ा होता है। पर व्यक्ति के बाह्य मूल्य उसके क्रिया–कलापों से संबंधित होते हैं। रचनाकार एक विशिष्ट मानसिक स्तर पर ध्यानस्थ होकर साहित्य सृजन करता है। रचनात्मक प्रक्रिया में सचेतन और अचेतन दोनों ही अवस्थाओं में वह सक्रिय रहता है। क्यों कि उसमें विशिष्ट मौलिक क्षमता पहले से ही निहित होती है। जो वर्तमान परिस्थितियों में शक्ति और संभावनाओं का विश्लेषण करते–करते मानव–जीवन मूल्यों की शोध करती है–

''कल जो किसी संकल्प के भुजपाश में
सिसका किया
बादल घिरे आकाश में
मेरे नयन का अश्रु था
डूबा हुआ तारा न था
मरु-द्वीप पर भटकी मलय की गन्ध-सा
संघर्ष में
भूले हुए अनुबन्ध-सा
खण्डित हृदय का स्वप्न था
पथभ्रान्त बंजारा न था।''[43]

उपर्युक्त पंक्तियों में प्रकृति का मानवीकरण अद्भुत है। प्रकृति यहाँ साधन है व्यक्ति की आत्म-पीड़ा का आकलन करने तथा स्वयं की त्रासद मनःस्थिति का उद्घोष करने का। प्रकृति में मानवीय अनुभूति या, संवेदनाओं, भावनाओं का स्पष्ट चित्रण किया गया है।

आज हमारे समाज में भय, कुंठा, त्रास, विषमता, अनाचार अन्याय, अमानवीयता का ऐसा वातावरण है कि प्रत्येक संवेदनशील कलाकार उसी कटु अनुभूति को अभिव्यक्त करता हुआ मिलता है। शब्द की शक्ति और टूटती समाज की व्यवस्था का बोध उबलता हुआ कवि का आक्रोश देखते ही बनता है-

''बाहर की दुनिया से आखिर हम कतराकर
कब तक सन्नाटे का स्वागत कथन बुनते
भाँज रहे थे जब तुम
भीड़ों पर तलवार
हमने तो मुँह सींकर उम्र-कैद काटी
कब तक सिर नोंचा कर घायल अँगुलियों से
खण्डित मणि-दर्पण की किरचे हम चुनते।''[44]

इन्द्र जी कथ्य के क्षेत्र में युगीन संदर्भों के अतिनिकट है। आम आदमी का जीवन ही नवगीत का विषय वस्तु है। समाज में व्याप्त विषमता, व्यावहारिकता का ह्रास, हिंसा, मानव-मूल्यों का ह्रास, अराजकता आम आदमी की असुरक्षा की भावना ये सभी मुद्दे हैं जो इन्द्र जी इन नवगीतों में पूरे-जोर-शोर से उठाए हैं।

P/Th 11459

जीवन के सुख-दुःख के साथ चलने वाली रचना प्रक्रिया ही रचनाधर्म के पालन का संकेत हैं परम्परायें, मान्यताएँ दम तोड़ रही हैं, सभ्यता अपनी पहचान खो रही है, समाज निरन्तर अपसंस्कृति के दलदल में गहराई की ओर चलता जा रहा है। जिसमें 'इन्द्र' जी अपने इस नवगीत में आत्मघुटन एवं आत्म-द्वन्द्व की बेचैनी का इजहार करते हैं-

''आँसू तो मोती था
पलकों की सीपी का
हंसों ने
पंखों के आँचल में चुन लिया
बन्धु कहाँ ले जाऊँ मन की इस आग को
दुपहरी में फूलों की गंध-सी
बन्धु किसे दिखलाऊँ भीतर के दाग को।''

इनके गीतों में इसी पीड़ा का परिपाक हुआ है। ऐसे में इन्द्र जी की रचनाओं में निराशा के स्वरों को वाणी मिलना स्वाभाविक है।[45]

समाज-सापेक्ष सांस्कृतिक वातावरण इन्द्र जी के नवगीतों को महत्वपूर्ण आधार देता है। अपने गीतों के माध्यम से वे कही गौरवमयी अतीत के प्रति आदर दर्शाते हैं, कहीं मधुर स्मृतियाँ प्रस्तुत करते हैं उस गौरव के अतीत होने तथा वर्तमान के विद्रूप हो जाने को लेकर कवि का स्वर-

''महके जो कल आँगन में
सपनों में, सुधि में, मन में
सन्नाटे के आँचल में
चुटकी भर बौर घर गये
युग-युग की हर्ष-व्यथा-से
हम सबकी आत्मकथा-से
जब पिछले पन्ने पलटे
आँखों में तुम उभर गये।''[46]

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि की सुगंधित संवेदना का संस्पर्श और स्मृतियों के उद्वेग का वर्णन है।

अपने ही लोगों से अन्तराल की व्यथा कवि अपने इस नवगीत में व्यक्त करता है। लोगों के रिश्ते-नाते की चिन्ता नहीं रही। छल-कपट का बोल-बाला है। कथनी और करनी में भीषण वैषम्य पनप रहा है। कवि की वाणी सुस्पष्ट गाथा प्रस्तुत करती है-

"जिनसे हम बधे रहे
वे थे कब
खून के सगे
वह महफिल का मुजरा
मंदिर में प्रतिमा-सा यह जड़ा
उस पर हम हो फिदा
या उसकी सुबह-शाम आरती उतारें
वह अन्धा ज्वार और है यह पानी थमा।"[47]

आज वचन-निर्वाह की परवाह कौन करता है ? सब छल करके स्वार्थ-साधन में संलग्न है। आस्था-विश्वास, सेवा-समर्पण ने अर्थ खो दिया है। रिश्ते-संबंध सब औपचारिक है। उनमें आत्मीयता की सुवास अब नहीं रही।

वर्ण्य की दृष्टि से नवगीत को दो भागों में विभाजित किया गया है-

1) ग्राम्य परिवेश
2) नगर परिवेश

इन्द्र जी के नवगीतों में कहीं-कहीं माटी की महक तथा आत्मीय सम्बन्धों की सुगन्ध है-

"एक शहर को
अन्य शहर से
तोड़ रही हैं
कोलतार की लम्बी फैली काली सड़कें
एक गाँव को
अन्य गाँव से जोड़ रही हैं।
किसी एक ऐसी ही पगडण्डी के तट पर
कच्ची भीतों
छतों
छान

खपरैलों वाला
मेरा छोटा गाँव बसा है, जिसे छोड़ मैं
बरसों पहले
दूर चला आया एकाकी, इन सड़कों पर।''[48]

कवि देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' जी अपनी अनुभूति और अभिलाषा के ओसबिन्दु को मुट्ठी में सहेजे हुए हैं। उनका अधिकांश सृजन चेतना के स्तरपर बहुआयामी है, किन्तु कविता के मूल संदर्भ में यही अभिसत्ता उनकी अस्मिता है, जो कभी कवच और कभी सम्बल जैसी लगती है। इस भावभूमि की प्रतिविधि कविता 'पगडंडी और सड़के' हैं। यह दीर्घ कविता एक ऐसी आत्म-कथ्य है, जो गाँव से उखड़े और शहर में आजीवन अजनबी बने रहने वाले विभक्त जीवन की विषण्ण गाथा का प्रथम सर्ग है।

मौलिकता तथा प्रतीकों के सार्थक प्रयोग के कारण उनके नवगीत अपनी अलग पहचान रखते हैं। नये प्रतीकों एवं बिम्बों का सटीक प्रयोग कर उन्होंने नवगीत को अर्थ-विस्तार दिया है। इस दृष्टि से वे अप्रतिम ठहरते हैं। प्रकृति से लेकर जीवन के मीठे-कड़वे प्रसंगों से उनका आभ्यान्तर आपन्न है। अर्थात् उनके गीतों का वस्तु-फलक बड़ा व्यापक है। गतिशील भाषा उनकी एक अन्य विशेषता है। प्रस्तुत है कवि की लेखनी-

''फटक रही धूप
किरण हाथ लिए सूप
आँचल में सोनल-मुख ढांपती
महके कचनार
लिपे आँगन के द्वार
थक कर उस पार
थमा-झंझा का ज्वार
हिरनी-सी पीत साँझ हाँफती
रीता-तूणीर
चुके मंत्रबिद्ध तीर
कुहरे की प्रत्यञ्चा काँपती।''[49]

इन्द्र जी बिम्बों एवं प्रतीकों के साथ व्यक्तिमूलक संवेदना के धनी कवि हैं, जिसका अपना सौन्दर्य अपना तेवर है। मानव-मन की अतल गहराइयों को, सामाजिक

पीड़ा की अन्तरंग अनुभूतियों और संबंधों की सहज प्रेमानुभूतियों को जिस कलात्मकता के साथ प्रस्तुत करते हैं वह देखने योग्य है–

''ओढ़े थे इस्पाती खोलें
छोड़ यह रेशमी त्वचा
कल थे जिस स्वप्न पर फिदा
कर आये हम उसे विदा
खामोशी को दफना कर
साँसों के होठों पर घोलें
सड़कों पर शोर जो मचा।''[50]

उपर्युक्त नवगीत में समाज का आन्तरिक द्वन्द्व, जीवन की विसंगतियों एवं सर्वहारा वर्ग के संघर्षों से जोड़ते हुए, वह जिस प्रकार शोषण–व्यवस्था, असहिष्णुता के खिलाफ विद्रोही आवाज उठाते हैं, वह अपने आप में अविस्मरणीय है।

इन्द्र जी अपने इस नवगीत में अपनी मनोव्यथा व्यक्त करते हुए कहते हैं, कि जिनकी छाँह में हम खड़े थे, वो वर्षों पहले गुजर गया। अब तो वह सिर्फ दन्त–कथा बन कर रह गयी है। इसमें कभी न लौट कर आने वाला दर्द–भरा–संवाद प्रस्तुति का आधार बिन्दु है, कवि की वाणी प्रखर है– विछुड़ेपन के झेलने का एहसास है–

''टूटे हैं वे मेहराबें
हम जिनकी छाँह में खड़े
बरसों पहले गुजर गया
वह शोभा यात्रा का रथ
अब तो पगचिन्ह आँकता
लौट रहा वह गूंगा पथ
अधभूली दन्तकथा सी
यादों की उंगली पकड़े।''[51]

उपर्युक्त पंक्तियों में आधार शिला का टूटना तथा आत्म घुटन का एहसास बिम्बित है। बेसहारा जीवन और व्यक्तिगत मानवीय चेतना की तड़प है।

तरह–तरह के छल–छद्मों से भरे आज के समय में 'सत्य' की भी स्थिति संदिग्ध हो गई है। सत्य को लोगों ने निजी सोच और व्याख्याओं में लपेट लिया है। यहाँ हम मिथकीय प्रयोग एवं टूटते मूल्यों के उद्घोष देख सकते हैं–

''समय की पंकलीना अरण्यानी के महारथ में
विधूर्णित लौह चक्रों की धुरी से तुम
अदीपित वीथियों की नम्र पलकों में
अधूरी नींद का काजल अलस गहरा
हिमानी के मुखर कीचक-निकुंजों में
कुहरते मौन का संशय जड़ित पहरा।''[52]

यदि इन्द्र जी की इन कृतियों पर कुछ कहा जाये तो संक्षेप में कहा जा सकता है कि काव्ययुग की त्रासदी, मानवीय मूल्यों का क्षरण, साहित्य जगत में पनपते छल-छद्म, प्रकृति का अनुपम सौन्दर्य, जीवन की विद्रूपता, व्यक्तिगत जीवन की विवशता, विकलता और विडम्बना के चित्र तथा इस जीवन-जगत के जुड़ते-छूटते संदर्भों की स्मृतियों आदि के अनेक नवीन व ताजे विषयों की सफल अभिव्यक्ति इन्द्र जी के लेखनी से सम्भव बन पड़ी है।

गाँव से चलकर शहर तक पहुँचने तक की जीवन-यात्रा ऐसे अनेक लोगों की भी है, उस यात्रा में कवि भी शामिल है। गाँव की प्यार-मुहब्बत भरी बातें सचमुच शहर में पहुँचते ही न जाने कहाँ खो-सी जाती है। इन्द्र जी की लेखनी इस सत्य का प्रमाण है-

''गुमनामियों की धुन्ध में
डूबा हुआ हर चेहरा
हर आँख में है एक टूटा ख्याब अश्कों से भरा
हर खुदकुशी देती यहाँ पर जिन्दगी का वास्ता
उँगली पकड़ कर भीड़ को
चलता यहा हर रास्ता।''[53]

उपर्युक्त पंक्तियों में महानगरीय भीड़ और उसमें व्याप्त मूल्यहीनता का चित्रण है। जिससे व्यक्ति-विशेष की पहचान टूटती नजर आती है और उसमें रिश्तों का अनजान बनने का दर्द छुपा है।

वक्त नदी के एक धारा की तरह है जो सतत अग्रसर होते रहती है। फिर वापस उस स्थान पर कभी नहीं आता। गुजरे हुए अतीत की व्यतीत अनुभूतियों को पीछे छोड़ जाता है-

''समय
शाश्वत एक धारा है

जो सतत आगे बहा करती
जहाँ से
वह गुजरती
फिर वहाँ पर
पग नहीं धरती
और घटनाचक्र
पीछे छूट जाता है
कशमकश में
एक धागे-सा
उलझकर
टूट जाता है।''[54]

उपर्युक्त पंक्तियों में बदलाव यानी समय परिवर्तन और विघटन का रूप बिम्बित है। इसी कशमकश में व्यक्ति धागे सा उलझकर टूट जाता है।

प्रस्तुत नवगीत 'सीमाबद्ध' में 'इन्द्र' जी नगरीय-जीवन के कोलाहल भरी भाग-दौड़-सी मशीनी व्यक्तित्व जो थका-हारा मृत्यु का ग्रास बनता है, फिर भी उसे चारों तरफ परिचयहीन चेहरे नजर आते हैं प्रस्तुत किये है-

''जायेगा बच कर कहाँ अब
सब तरफ हैं लगे पहरे
इस शहर से उस शहर तक
दूर तक छाई हुई है
मातमी ही मातमी
मशीनों के बोझ के नींचे
कुचलकर
थका हारा तोड़ता दम आदमी
सड़क पर रेंगते हैं
मात्र परिचयहीन चेहरे।''[55]

नगर का दिनोदिन विस्तार हो रहा है ? निरन्तर भीड़ बढ़ती जा रही है फिर भी कैसी विडंबना है बस्तियाँ सूनी नजर आ रही है। भौतिक वाद ने समाज को इतना जकड़

लिया है कि किसी के पास समय नहीं है कि किसी के असमय में उसे सहारा प्रदान कर उसके दुःख के बोझ को कम करे।

प्रस्तुत नवगीत 'निशीथ-राग' में कवि का एक-एक छंद पूरा परिदृश्य उपस्थित कर देता है। यहाँ प्रकृति दिव्य है। मानव की जन्मदात्री वह परमवत्सला है और उसी से मानव को दिव्यता और अमरत्व प्राप्त हुआ है। कवि के इस काव्य-संग्रह को प्रकृति का श्रृंगार भी कह सकते है, जो प्राकृतिक उपादानों से ही किया है-

''पिछला प्रहर है रात का
है ऊँधते आकाश में
दो चार तारे अब तलक
लेकिन नहीं मद्धिम पड़ी
उस एक तारे की झलक।''[56]

उपर्युक्त पंक्तियों में प्रकृति का सुन्दर परिवेश की छटा व्याप्त है।

प्रस्तुत पंक्तियों का मुख्य आधार प्रकृति का मानवीकरण है। यहाँ प्रकृति एवं मानव-मन में तादातम्य स्थापित किया गया है। इन्द्र जी के प्रकृति चित्रण में आत्मीयता का गहरा पुट है। उनकी प्रकृति संवाद शिला है सौन्दर्य और संवेदना की मूर्ति है। कोई जड़ भौतिक पदार्थ नहीं है। 'इन्द्र' जी की घनी लेखनी प्रस्तुत है-

''ऊँघती है ज्योति-कन्याएँ
नील-नभ की जल-तरंगों पर
एक सहमी-सी किरन उलझी
सुरमई आकाश के पर में
चुप्पियों के पाँव की पायल
बज उठे ज्यों धुंध के स्वर में
स्वप्न मेघों-से उतरते हैं
नीड़ में सोये विहंगों पर।''[57]

प्रकृति की छोटी से छोटी वस्तु भी कवि को संदेश दे जाती है।

'इन्द्र' जी के गीतों का कथ्य, भाव आदि अत्यन्त समृद्ध तथा भाषा उसके अनुकूल प्रयुक्त हुए हैं। बौद्धिकता का समावेश, जिसे आज के काव्य की परम आवश्यकता समझा जाता है, 'इन्द्र' जी के काव्य में बड़ी कुशलता और गरिमा के साथ

हुआ है। युग चेतना की प्रखर अभिव्यक्ति और प्रकृति के सांस्कृतिक स्वरुप का चित्रण कवि को विशिष्टता प्रदान कर के उसे बड़ा बनाते हैं। कवि की बोलती वाणी प्रस्तुत है–

''कौन से लय सेतु हम बाँधे
मौन के इन अन्तरालों पर
शब्द की चिकनी ढलानों से
अर्थ पानी–सा वहा आता
बिम्ब उलझे रुप तथ्यों में
कथ्य कब उनसे कहा जाता।''[58]

इसी रचनाधर्मिता के प्रति उपरोक्त कवि का अपना मन्तव्य है।

मानवीय जीवन के संत्रासों, कटु अनुभवों को स्वर देते हुए कवि समाज, राजनीतिक भावनात्मक संबंधों पर सशक्त तरीके से कुठारा घात करने में सफल हुआ है। आज की कुढ़ती दुनिया में संघर्षरत मान का चित्र–

''एक विंध्याचल सतत ढोया
स्वेद–सिंचित थके कंधों पर
टाँग कर तूणीर–शर–शायक
आत्म–निर्वासित कंबंधों पर
आँख में काँटे गुलाबों के
पीठ पत्थर से छिली होगी।''[59]

प्रकृति का सुन्दर काव्य–बिम्ब रचने में कवि को महारथ हासिल है। काव्य–बिम्ब का अनुपम सौन्दर्य देखें–

''फगुनौटी हवा बहो धीरे,
रंगों की भाषा ने
अभी–अभी
कुहरे में
स्वप्न पंख खोले
पानी के दरपन में
किरणों के
अलसाये बिम्ब अभी डोले
लिखने दो लहरों को आत्मकथा

नदिया के तीरे।''[60]

इन गीतों में प्रकृति के सहज संवेदनीय चित्रण के साथ-साथ संगीत, चित्रमयता तथा लोकजीवन के चित्रण की विशेषता द्रष्टव्य है।

राजनीति सुन्दर, सुदृढ़ राज्य प्रशासन की नीति होती है। संकट-कालीन घड़ियों में शासनाधिकारी उस गुप्त मंत्र-स्वरुप नीति का उपयोग करते हैं और राष्ट्र को खतरे से बचाते हैं। लेकिन आज राजनीति स्वार्थ की नीति बन गई है। स्वार्थ में डूबे नेता सामान्य वर्ग की सुरक्षा एवं उनके सुख-दुःख के प्रति नहीं देखते हैं। इसी राजनीति व्यवस्था का षढ्यंत्र और गरीबों, दलितों की गिरी हुई दुर्दशा को देखकर 'इन्द्र' जी वेदनाग्रस्त हो उठते हैं-

''लौटा लो बन्धु ! कृपाभाव
आँच में उपेक्षा की
कुछ दिन तो और दहें
राजमहल के भीतर चल रही
अभिषेकित परंपरा
अभिमन्त्रित स्वयंवरा
कुछ पल प्रतिहारी के वेश में
यो ही दरवाजे पर करे रहें
कल हम भी शब्द-वाण छोड़ेंगे
सहने दो और अभी घाव
यह पहली मंजिल है
दो ही पग आगे है
शेष अभी लम्बी प्रतियोगिता।''[61]

'इन्द्र' जी आम-आदमी की बात आम बोलचाल की भाषा में करते हैं, पर कहीं-कहीं वह भाषा खास हो जाती है। (इसमें) उपर्युक्त पंक्ति में आम आदमी की त्रासदी का सुन्दर अवलोकन है।

परिवर्तन प्रकृति और जीवन का अनिवार्य नियम है। इसी के तहत प्रगतिवादी युग में गीत ने पारम्परिक शिल्प के साथ-साथ कथ्य को विशेष महत्व देते हुए विषयों की व्यापकता अंगीकार करके नवगीत के स्वरुप में जीवन की जटिलताओं, विसंगतियों,

स्थितियों और परिस्थितियों को अभिव्यक्ति दी है। 'बादलों के व्यूह में' इसे आप देख सकते हैं-

''कल जहाँ बिजली गिरी थी
अब फहरती है वहाँ पर
इन्द्र धनुषों की ध्वजाएँ
ढल गयी वह राख जो कल तक घिरी थी,
किन्तु सूरज
आज भी है कैद
काले बादलों के व्यूह मे।''[62]

देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' जी जहाँ एक ओर जनतांत्रिक मूल्यों के हनन को देककर क्षुब्ध और चिंतित है। वही अमानवीयकरण के प्रसार ने भी उसे भयभीत किया है कटने की कोशिश में उससे जुड़ते जाना कवि के चिन्ता का कारण है। निर्मम सत्ता, अवसरवादी-सुविधाजीवी नेतृत्व, हिंसा को बढ़ावा देता है-

''कैसा है यह गोरखधंधा
कटने की कोशिश में
और हम जुड़े
वे ही सुधि में उभरे
जिनसे-बिछुड़े
बीते कल के शव को ढो रहा
वर्तमान का घायल कंधा।''[63]

आज मानव सुलभ भावनाओं और क्रिया-व्यापारों को अपना ग्रास बना रही है, बाजारवादी ताकतें। यह मानव मूल्यों के लिए गंभीर संकट की घड़ी है।

पिछले दशकों में व्यवस्था का जो क्रूर चरित्र निखर कर सामने आया है और अपराध-राजनीति का जो अपावन गँठजोड़ सब पर हावी होता गया है, उसके फलस्वरुप हर संवेदनशील व्यक्ति अपने को असुरक्षित अनुभव कर रहा है। अतः यदि यह कहा जाय कि 'डर' आज के सार्थक साहित्य की प्रमुख संवेदना है तो अत्युक्ति न होगी। मोह-भंग की पीड़ा इन गीतों में दिखती है-

''बन्द करो गर्जन-तर्जन चुप भी बैठो
कौन सुनेगा ओ। अब बूढ़े शेर तुम्हें

जिनसे तेरे मान, प्रतिष्ठा, आदर थे
वे गज, अश्व, शशक, मृग, शावक, मेष, अजा
बीत गया युग इस जंगल से चले गये
अब इस वन की नीति व्यवस्था बदल गयी
बाध, लोमरी, स्यार, भेड़िये गुर्राते
पग-पग पर आचरण ओढ़ कर नये-नये
सभी तुम्हारे ताक लगाये बैठे हैं
बोटी-बोटी चीर खायेंगे घेर तुम्हें।''[64]

अव्यवस्था का क्रांतिकारी रुप कवि के चिन्ता का मूल कारण है। अव्यवस्था भेड़ियों की तरह मुँह बाये व्यक्ति को निगलने के लिए तत्पर है।

स्वतंत्रता मिलने के बाद पूरी आशा थी कि समता, समानता, न्याय, स्वतंत्रता आदि मूल्यों का वर्चस्व होगा। विषमता की खाई पटेगी लेकिन जन-विरोधी कृत्यों के फलस्वरुप ऐसा संभव नहीं हुआ। बल्कि जिन्हें जनहित का दायित्व सौपा गया वे ही जनविरोधी सिद्ध हुए। जनविरोध के खिलाफ आवाज उठाने वाले को यहाँ कुबड़ा बना दिया गया। ''सूरज को पकड़ो'' नवगीत में इसी सत्य को प्रतिपादित किया गया है-

''इस बूढ़े सूरज ने कैसे हिम्मत की है
आवाज उठाने की जवान अंधियारे पर
आलोक-शिखर पर चढ़ने की जुर्रत न करे
राजाज्ञा है पद मर्दन से कर दी कुबड़ा
इस पर कोई प्रतिबन्ध लगाया नहीं गया
तो तिमिर-यवनिका चीर-चीर यह कर देगा
सत्ता औ' जनता में जो शून्य अपेक्षित है
इसके यह द्रोह-दीप्त लपटों से भर देगा।''[65]

अपने स्वार्थों में लिप्त सत्ता लोभी आधुनिक नेताओं की अनीतियाँ तथा अन्याय के दौर का सुस्पष्ट चित्रण व्यक्त है।

'कुहरे की प्रत्यञ्चा' संकलन में कवि देवेन्द्र शर्मा इन्द्र ने मन के कुहासे से भरी अनिच्छनीय वांछा को सामने रखा है। जनाग्रह से बहुत व्यवस्था के प्रवंच जिसमें आम आदमी के संत्रस्त भाव व्यक्त हुइ इस संग्रह में समाहित है।

कवि आदमी के मर्म की मूढ़ व्यथाओं को उकेरता है। आँखों के आगे के कुहरे को दूर करता है और धुधलके उजाले में किसी सूरज की तलाश करता नजर आता है।

संवेदनाओं के धरातल पर इन नवगीतों में अनेक आयामी सोच के धरातल स्थापित हुए हैं। प्रायः सभी नवगीत अपनी वृत्त में समाज की कमजोरियों और व्यवस्था की रुजिताओं को व्याख्यायित करता है।

पथरीले शोर में

सन् 1972 में प्रकाशित यह कृति देवेन्द्र शर्मा इन्द्र की कुछ विशिष्ट नवगीतों को प्रकाश में लाती है। 'पथरीले शोर में' 'इन्द्र' जी का पहला काव्य-संकलन है। इस संकलन के माध्यम से 'इन्द्र' जी की नीयत न सिद्ध और न प्रसिद्ध कवियों की श्रेणी में ही प्रतिष्ठित होने की है और न गंभीर काव्यादर्श को प्रस्तावित करते हुए इस संकलन की रचनाओं को न अद्वितीयता की घोषणा ही करना चाहते हैं।

सच्ची कविता देशकालानुवर्तिनी होकर भी दिक्काल निरपेक्ष होती है। उसकी अपनी एक अलग बोली और भंगिमा होती है। वह अखबार नहीं हो सकती, न वह नाद है न गाली और न स्तोत्र ही, न उसमें देह का भूगोल होता है, न अंगारों की ऊष्मा, न वह ओस की ठंडी छुअन है, न वह पिघलते हुए फौलाद का लावा या धुएँ की घुटन ही है। कविता न तो चिकनी ढलानी पर से फिसलती हुइ दूधिया चाँदनी का मादक संगीत है और न चिन्तन अथवा दर्शन का कर्पूरी उच्छ्वास। कविता छन्दोवद्ध होकर भी स्वच्छन्द होती है। सृष्टि की आदिम चेतना का स्फुरण होकर भी वह नितान्त आधुनिक और प्रकृति सहचरी होकर भी महानगर की भीड़ में अपने पथ की खोज में लीन रहती है।

वस्तुतः जीवन-जगत, प्रकृति-परिवेश, व्यष्टि और समष्टि में सभी कुछ मूलतया अपरिवर्तित रह कर भी क्षण-प्रतिक्षण विकसित और व्यावर्तित होता रहता है। कविता भी स्वयं में के रूढ़ और शिलीभूत इकाई नहीं होती। रागात्मक अनुभूति और कलापूर्ण अभिव्यंजना के युगल तीरों के मध्य से प्रवाहमान इस अन्तः सलिला में विचार एवं चिन्तन की विविध वीचियों के संघात-प्रतिघात उसके जीवन्त और स्पन्दनशील होने के साक्षी होते हैं। संवेदना और अनुभूति के गुणात्मक रूपान्तरण से अभिव्यक्ति के स्तर भी सदैव बनते-बदलते रहते हैं।

यहाँ 'इन्द्र' जी एक व्यक्ति हैं, जो महानगर में होकर भी महानगर के नहीं हैं। वह इस महानगरीय संस्कृति से भयभीत हैं,किन्तु वैयक्तिक और सामाजिक दोनों स्तरों पर वह

उसमें शरीक नहीं हैं। उसे उस सामाजिक और राजनैतिक जीवन के छद्म से वितृष्णा है जिसके दायरे में रहने, जीने और समझौता करने को वह विवश है। अपनी नदी के तटों से दूर इस नई नदी में रहकर भी वह उसकी विसंगतियों पर उसके मगरमच्छों और उसकी अमानुषिकता पर निरन्तर प्रहार करते रहते हैं। देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' का समाजपरक काव्य अपनी अभिव्यक्ति में सरल, पैना-चुटीला और व्यंग्यपूर्ण है। इनकी कविता नारेबाजी से दूर है, किन्तु समाज की विषमताओं, विसंगतियों, शोषण की राजनीति पर चोट करती हुए किन्तु उसमें कटुता और पश्चाताप की ध्वनि भी है । पर पराजय का बोध नहीं है। अपने ही शब्दो में कवि व्यक्त करते हुए कहते हैं-

''जो कुछ हूँ, जैसा हूँ, प्रस्तुत हूँ,
मौलिक हूँ, अनुकरण नहीं हूँ।
इस जीवित क्षण का मै साक्षी हूँ
मैं कल का संस्मरण नहीं हूँ।।
सम्भव है चलने में भटका हूँ
अनुगामी आचरण नहीं हूँ।
सम्पर्कों के कन्धों पर चढ़कर
विजय केतु-सा मैं कब लहराया ?
दरवाजे पर दस्तक दी मैंने
खिड़की की राह से नहीं आया।।
भाषातीत भावों का स्पन्दन हूँ
सूत्रबद्ध व्याकरण नहीं हूँ।''[66]

'इन्द्र' जी हृदय से निर्मल व पावन, स्पष्टवादी, खेमेबंदी से दूर एकांत-साधना के विश्वासी, अपने आस-पास में सिमटे रहने वाले, लेकिन सामयिक परिस्थितियों को झेलते, समझते और उनका हौसला से सामना करते रहने वाले बेहद जागरूक रचनाकार है।

देवेन्द्र जी नवगीत के पक्षधर तो हैं ही, सम्भवतः शुद्ध कविता के भी हिमायती हैं। ऐसा नहीं है कि उनका काव्य जीवन से अलग कहीं किसी कल्पना लोक या यूटोपिया का विचरण है। दरअसल उनकी कविता मौलिक रुप से जिन्दगी को शिद्दत से महसूस करने का दस्तावेज है। उनकी अनुभूति की तीव्रता हो या भावप्रवणता, लगता है जिन्दगी ने उन्हें बहुत दुख दिया है। उनका समस्त काव्य एक दर्द, पीड़ा, विषाद और बहुत कुछ

खोने के अनभिमुक्त बोध का अलंकृत और विविध वृत्तान्त है। वैयक्तिक, अवसाद, सामाजिक वैषम्य और विघटन, मूल्यों के ह्रास और तज्जनित निराशा, एकाकीपन और निस्संगता एक जीवन व्यापी गाथा का अश्वमेघ है। 'इन्द्र' जी की लेखनी इसी सत्यता को दर्शाती हुई प्रस्तुत है-

''एक-एक कर उदास गर्मी के
सारे दिन गुजर गये।
सिमट गयी हरि नम्र छाया
आकाशी देवदारु
आरण्यक खिरनी की।
खोज रही विरल-जलद-माया
प्यासी आँखें, सुखे
मरुथल में हिरनी की।।
पूरब से यक्षदूत आये पर
बिन बरसे छितर गये।''[67]

कवि जीवन भर संघर्षों से जूझता रहा। पीड़ा उसके जीवन का अनिवार्य अंग बन गयी। पीड़ा की यह खामोशी, सन्नाटा और उदासी के आधार बिन्दुओं के बिना अपूर्ण है। अपनत्व की भावना से व्यक्ति दूर हटता जा रहा है। आदमी एवं उसके सम्बन्धों की सारी संवेदनशीलता महानगरीय त्रासदी में समाप्त होती जा रही है। अपने ही शब्दों में 'इन्द्र' जी कहते हैं-

''सम्बन्धों की चिकनी सतहों पर
जम गयी असंगतियों की काई।
जब भी जिस मंजिल की ओर बढ़े
पग-पग पर हमने ठोकर खाई।।''[68]

दूसरी कविता शीर्षक 'अशेष गाथा' में सम्बन्धों की डूबती किरण को कवि इन शब्दों में व्यक्त किया है-

''तुमने भी ममता के धागे को
पल में झटका देकर तोड़ दिया।
कल तक जो सुख-दुःख के साथी थे
आज वही लगते एँठे-एँठे।

राम-राम तक जिनसे न रही-

तुम उनकी श्रणी में जा बैठे ।।''[69]

ये सारे प्रतीक आम आदमी की जिन्दगी की समर-गाथा के अध्याय हैं, जो हमारी अपनी ही मायावी दुनिया के आस-पास समय की क्रूरतम सच्चाइयों के रुप में बिखरे पड़े हैं। इन्द्र जी भाषा, उसकी प्रामाणिकता, उसकी भीतरी गूँज एवं अंतर्दृष्टि के प्रति बेहद चौकन्ने एवं सतर्क जान पड़ते हैं। वह सच्चाई की जटिलता और उलझाव को साफ तरीके से पकड़ते हैं। 'इन्द्र' जी की लेखनी इसी सत्यता को दर्शाती हुई कहती है-

''बेगानों के इस जुलूस में, कैसे हम खुद को पहचाने

डगमग पाँव बढ़ रहे पथ पर

हम आँखों पर पट्टी बाँधे।

जीना तो है एक बहाना

लाश ढो रहे घायल काँधे ।।''[70]

''लो अब तो सिमट गया गहरे आवर्तों में

जल का फैलाव।

शेष रहा यादों की अनभीगी पर्तों में

क्षण का शैलाव ।।''[71]

कवि की दृष्टि यदि समाज की विसंगतियों पर पड़ी है तो दूसरी ओर अपनी सांस्कृतिक धरोहर-पर्व होली पर भी पड़ी है। यह इन्द्र जी की क्षमता की व्यापकता की पुष्टि करता है। होली के इन गीतों में नाद-सौंदर्य, वर्ण-योजना और कल्पना की रंगमयी विविध छटाओं का स्वाभाविक चित्रण है। देवेन्द्र जी का गीत उद्धृत हैं-

''होली के रंग भरे,

भूली सुधि-से उभरे,

फागुनी अकाश तले रतनारे बादल।

दूर-दूर खेतों में

गंधाकुल रेतों में

लहराता पवनकम्प-सरसों का आँचल ।।

नीलम-नभ रश्मि-भरित,

प्रेम प्रभा-हंस-त्वरित,

धरती की ओर मुड़े मानस कर सूना ।।

झील की सुनील सतह हो चली रुपहरी ।

लिये किरण पिचकारी

ज्योति वधू मतवारी ।''[72]

कवि देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' अपने गाँव से दूर रहकर भी वह मानसिक रुप से जुड़े होते हैं, उसे भूल नहीं पाते हैं। इसकी कसक इनके दिलों-दिमागों में घर कर गई है। महानगर में आकर एकाकीपन का सामना आज तक करते रहे हैं। रचनाशीलता उनके जीवन का लक्ष्य है। 'इन्द्र' जी की लेखनी सुस्पष्ट है-

''कविताएँ लिखने के नाम-

हमने कुछ सूक्तियाँ गढ़ीं।

इस लम्बी एकाकी यात्रा में

साथ रहे अनजाने साये ।

आँखों से हँसने की कोशिश में

थमे हुए अश्रु निकल आये ।।''[73]

उपरोक्त नवगीत आंतरिक अवसाद से ग्रस्त है, जो स्वाभाविक है और समाज एवं जीवन के प्रति जागरुकता का प्रमाण है।

मानव का स्वभाव है कि वह अपने अतीत से राग रखता आया है। उसके हृदय को कोमल और कठोर दोनों ही भावनाएँ छूती हैं और अतीत की याद में वह विह्वल हो जाता है। हृदय को छूने वाली बातें सदैव मस्तक-पटल छायी रहती है-

''झुलस गये रिश्तों के रक्तकमल

झील और ताल सभी सूखे ।

धूल जमी संवादों की सतहें

शेष रहे सम्बोधन रुखे ।।

इस प्यासी बस्ती में नीर कहाँ ।''[74]

कवि देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' जी कहते हैं-कि स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत देश में उपजी दुःखद स्थितियाँ, कुरुपताओं, राजनीति में आया पतन तथा जीवन मूल्यों में आये बदलावों से इनका काव्य प्रभावित हुआ है। ये सारी स्थितियाँ इनके गीत मे किसी न किसी रुप में प्रकट हुई है। प्रस्तुत है 'इन्द्र' जी की लेखनी-

''मौलिकता के प्यासे हंस-किरन

खोज थके मानस का पंथ

चोंच मारते कौए कीचड़ में

आलोचक रटते ज्यों ग्रंथ ।।''[75]

निम्नलिखित नवगीत में 'खोने' के बोध को बचपन और कैशोर्य देशकाल से अलग नहीं कर सकते। यह विखण्डित अन्तर्जगत इतना संशलिष्ट है कि उसके कारकों और घटकों को विश्लेषित कर अलग करना और किसी सरलरेखीय परिभाषा में बाँधना संभव नहीं है। स्वप्न, सत्य और अनुभूति का यह बहुआयामी चेतना प्रवाह एक अनवरत श्रुतियों की श्रृंखला है जिसका व्याकरण भी दुर्बोध्य और उलझा है। गाँव छूटने का दर्द हंमेशा ही 'इन्द्र' जी के दिल को करता रहा है–

''छूट गया पीछे वह सपनों का देश।

यहाँ कहाँ पहचानी पगडण्डी

बचपन की यादों का गाँव

अनजानी भीड़ों के चौराहे

नाप रहे यायावर पाँव ।।''[76]

कवि के मन में एक आंतरिक पीड़ा या कचोट है जो आज की त्रासद स्थिति से उत्पन्न है। जिसका सामना कवि और व्यक्ति को करना पड़ता है, क्यों कि यह इसके मानवीय अस्तित्व का प्रश्न है, जो अपसंस्कृति के प्रभाव से संकटग्रस्त है। वर्तमान प्रतीति बिन्दु पर कवि 'इन्द्र' जी ऱ–ब–ऱ होते हैं। जो काल के खण्ड को व्यक्त करते हैं–

''काँपती अँगुलियों से बालू पर

लहरों के छन्दचित्र खींचे।

पीछे जो थे, आगे निकल गये

चिन्तक हम रहे आँख मींचे ।।

आये हम दरवाजे तक जाकर

खुली नहीं भाग्य की कपाटे।''[77]

'इन्द्र' जी की गहरी संवेदनशीलता इनके (कविता) नवगीत को प्रभावशाली बनाती है। 'इन्द्र' जी एक सच्चे इन्सान हैं। वे साहित्यकार हैं, स्नेही मित्र हैं, परिवार में एक कर्तव्यशील पति और पिता हैं। सभी क्षेत्रों में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। एक अदना–सा दिखने वाले व्यक्ति में ज्ञान का भण्डार–सा है, तभी तो वे स्वयं कहते हैं–

''ओ माया नगरी।

रह-रह कर छेड़ नहीं तू दुखती रग री ।।''[78]

निम्नलिखित नवगीत में 'इन्द्र' जी देने वाले 'ईश्वर' के प्रति आस्था एवं संवेदना का स्वर प्रगट किया हैं तथा आभार व्यक्त किया हैं-

''देने वाले तुमने मुझको क्या-क्या नहीं दिया ?
एक बून्द माँगी थी तुमने सिन्धु उँडेल दिया ।।''[79]

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। पृथ्वी पर प्रकृति में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। यह सत्य है कि अतीत की पृथ्वी की प्रकृति आज की प्रकृति से काफी भिन्न थी। यह परिवर्तन की निरन्तर बहती धारा का परिणाम है। इसी प्रकार मानवीय समाज भी निरन्तर परिवर्तनशील है। परिवर्तन का यह नियम समाज की संस्कृति, सम्यता तथा कला को भी प्रभावित करता है। इस तरह प्रकृति में मानवीय अनुभूतियाँ, संवेदना की भावना सुस्पष्ट नजर आती है-

''सावन का घर-आँगन सूना कर, डोली में
चली गयी बादल की बेटी वह बरखा।
मेंड़ों पर महक उठी मेंहदी,
पुरवा की रच गयी हथेली।
बिखरी जो किरणों की हल्दी,
सरसों ने गालों पर झेली ।।''[80]

'इन्द्र' जी के नवगीतों का एक आयाम व्यक्तिगत जीवन की कोमल और रागमयी अनुभूतियों को वाणी देने का भी है। रूपासक्त मन की अतृप्त छटपटाहत, मानवीय सौन्दर्य की छन्दमयी सुषमा, नर-नारी के बीच की सनातन अनबुझी प्यास और श्रृंगार की उदात्त अनुभूतियों को उनके निम्नलिखित नवगीतों में देखा जा सकता है-

''आओ, यदि संभव हो, तोड़े हम
संशय औ' चुप्पी की दीवारे।
दुनिया यह छोटी ज्यों घर आँगन।
कब तलक बचाओगे यों दामन ??
बात-बात पर ऐसे रुठना
मन ही मन घुटना औ' टूटना
कैसे कट पाएगा
लम्बा एकाकी पथ-सा जीवन ।''[81]

झूठे आश्वासन के बूते पर सत्ता के सिंहासन पर बैठने वाले राजनेताओं पर,जो भलमानस का मुखौटा लगाये सामान्य-जन-जीवन को छल रहे हैं साथ ही अपने ही सु-चरित्र का हनन कर रहे हैं। इसी दोहरे चरित्र पर कटाक्ष करते हुए कवि देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' ने करारा व्यंग्य किया है-

''जाने अनजाने में हमने यह भूल की-
देखे सुख के सपने छाँह में बबूल की।
झूठे निकले सारे
आश्वासन
व्यर्थ हुई साधना।
हिला नहीं प्रभुता का
सिंहासन,
निष्फल आराधना।।''[82]

सर्जना के व्यवहारिक पक्ष की दृष्टि से 'इन्द्र' जी ने निम्नलिखित नवगीत में उनके व्यक्तित्व, मानवीय चेतना के सूक्ष्म अणुओं का स्पर्श करके हुए उनके दिशाबोध को दर्शाते हैं। ये वर्तमान परिवेश, हिन्दी की दुर्दशा और नैतिक पतन से व्यथित हैं-

''हर ओर एक आपाधापी फैली।
सर्जना छोड़ दे, आलोचक बन-जा
निन्दा-स्तुति की तू सीख नयी शैली।।''[83]

अपनी नवगीत-यात्रा के सम्बन्ध में इन्द्र जी ने जो विचार प्रकट किये हैं, उनकी प्रकाशित अप्रकाशित सभी रचनाओं में स्पष्टतः देखा जा सकता है। गीत अपनी प्रारंभिक अवस्था में जहाँ एक ओर रुमानियत लिये हुए था, वही दूसरी ओर आध्यात्मिक भावप्रणयक्ति। दोनों का मध्यबिन्दु भी प्रकृति। वर्षानुभूति की एक शाम कविता में इस परंपरा की समग्रता को अंकित करते हुए इन्द्र जी दिखाई पड़ते हैं-

''फिर किसी के
घने काले कुन्तलों-सी
घिर रही उन्मत
हृदय के कुंज-वन में
आज ये बरसात वाली शाम।
पारिजातों की विरल परछाइयों में

राह भूले ऐन्द्रजालिक की भटकती मोहिनी-सी
अस्तमित रवि की
सुनहरी किरण उलझी
फिर अरुप अनाम ।।''[84]

प्रस्तुत रचना एक अनुभूति-परक, आस्थावान मन की उस व्यथा को प्रस्तुत करती है जो समकालीन भोगवादी, शुद्ध पदार्थवादी दृष्टि के कारण मानवीय संवेदनाओं के आहत होने से उपजी है। जहाँ कहीं निजी या वैयक्तिक संकेत भी है, रिश्तों के क्षरित हो जाने और संवेदनाओं के निष्प्रयोजित हो जाने की पीर ही व्यक्त हुई है। 'इन्द्र' जी की लेखनी इसी सत्यता को दर्शाती है-

''तुमने जो उस दिन दिया था मुझे
बीमार पंखुरियों वाला
एक मुरझाया हुआ गुलाब,
हम सब उदास है तो क्या हुआ
हम सब की पंखुरियाँ
खिलने से पहले ही
थाले में बिखर गयी
तो क्या हुआ ?
गंध अभी बाकी है।''[85]

कवि किसी भी वाद या किसी भी दृष्टिकोण से अपने को बाँधे वगैर एक सहज मनुष्य रुप में आसपास की स्थितियों को देखता है, उन्हें समझता है, उनकी पीड़ा को अपनी पीड़ा समझता है। तथा उसे अनुभव करने की अपने भीतर क्षमता रखता है। ऐसी संवेदना हमें इन्द्र जी में बार-बार दिखाई देती है-

''दिन भर
उदास आसमान की
तरंगहीन नील-लोहित झील में
सहस्र किरण पंखुरियों वाला
वह सूरज का स्वर्ण-कमल
सुनी घाटी के अनगाये दर्द-सा
खिलता रहा, खिलता रहा।''[86]

उपरोक्त पंक्ति में व्यक्तिगत पीड़ा, घुटन, निराशा को कवि व्यक्त करता है। ऐसी कविताएँ अन्दर तक झाकने के अवसर प्रदान करती है।

अतीत की स्मृतियाँ, जीवन के ठहराव की स्थिति में, सभी को सपनों की उस रंगीन दुनिया में ले जाती है, जहाँ उन्हें दुःखद क्षणों ने विचलित किया है तो सुखद स्वर्णिम अनुभूतियाँ प्रेरणा-दायक रही हैं। प्रस्तुत है 'इन्द्र' जी की लेखनी-

''किसी खण्डहर के पिछवारे
कुछ पल रुककर
खिसक गयी चुपके से स्वर्णिम धूप अन कहे
स्वप्न-वीथियों में हल्की-सी
छाँह-छोड़ कर।''[87]

छन्दोबद्धता और स्वच्छन्दता 'इन्द्र' जी के गीतों में समान रूप से विद्यमान है। जहाँ एक ओर उनके गीत स्थायी और अन्तरा की मर्यादाओं को स्वीकारते हैं, मात्राओं की क्षमता और वर्णों की यथारूप लघुता-गुरुता के पक्षधर है, वहीं दूसरी ओर इस नियमबद्धता को लांघ स्वच्छन्द भी हो जाते हैं, किन्तु सपाट सड़क पर गद्य की भाँति दौड़ नहीं लगाते, छन्द की छनक और वृत की वर्तुलता बराबर बनी रहती है। 'इन्द्र' जी महाकवि निराला के अनुगामी हैं। इन्द्र जी के शब्दों में-

''इस विजय कान्तार में हम भी
कभी निश्चिन्त होकर
बहुत घूमे थे।
तब हमारी चाल में विश्वास
पग में आस्था के पंख
प्राणों में अर्जित संकल्प
स्वर में गीत निर्झर फूटते थे,
तब हमारी कल्पना के-
तड़ित द्रुत उद्दाम उन्मद घनों ने अविकल
सत्य-सी नंगी धरा के अधर चूमे थे।।''[88]

इस प्रकार की छान्दस स्वच्छन्दता वही कवि बरत सकता है, जिसका छन्द, लय, स्वर पर, ताल पर और भावानुभावों पर पूर्ण अधिकार हो।

'इन्द्र' जी की प्रवृत्ति लोक-मंगलकारी है, इनकी संवेदना में एक गहराई (पुट) है। कुंठा, आक्रोश, निराशा, व्यथा को शाब्दिक आयाम देने में समर्थ दिखाई पड़ते हैं। विषय-वस्तु में विविधता है और सर्जक की भूमिका समय के साथ रंग लाती दिखाई पड़ती है। इन्द्र जी के मन में जीवन की यथार्थ वेदना के प्रति एक सच्चाई है-

''माटी के मण्डप में
गुड्डे से गुड़िया की
भाँवरे पड़ी नहीं।
भूखे ही चले गये बाराती
गूँजी भी नही कही शहनाई।
थर्मामीटर के किसी
अंक पर ठहरी हुई
पारे की बूँद-सी
मेरी बीमर बच्ची-सी
भीतर ही भीतर राह
तोड़ रही
मेरे मन प्राणों को
अनजाने संध्या
अनामिका।''[89]

कवि यथार्थ के भौतिक धरातल पर संस्थित होकर चतुर्दिक परिवेस के प्रति सजग रहता है। व्यंग्य के पीछे तीखी पीड़ा छिपी है। जो पाठक के हृदय को वेध देती है। मानव जीवन की विडम्बना है कि इस जगत की मरुयात्रा में व्यक्ति अपने अतीत को, या जिस महानुभावों के साथ वक्त गुजारा है भूला नहीं पाता। कवि अपने भावनाओं एवं विचारों की अभिव्यक्ति करने में पूर्ण-रूप से सक्षम है-

''हमें तुम भूल जाना
युगों-युगों तक फिर न करना याद
काल का परिवर्तन
सब कुछ मिटा देगा
दर्द की गहराइयों को चीर।
यदि कभी कोई तुम्हें पूछे, दिलाए याद कहना-

वे घरौंदे
जो कभी हमने बनाये बालुका पर
बहुत पहले ही
गए सब टूट
उनकी याद भी मन से
गए हम भूल।''[90]

उपरोक्त नवगीत पुस्तक 'पथरीले शोर में' की अंतिम 'भूल तुम जाना' शीर्षक नवगीत का अंश है। जो पाठक के अतीत की यादों को ताजा कर जाती है।

इस संकलन की अधिकांश रचनाओं में गीतात्मक संवेदना और तद्रूप शिल्प के प्रति आकर्षण प्रारंभ से अन्त तक विद्यमान है। गीतात्मकता इस नवगीतों में सीमा न होकर एक प्रयोजनवती संभावना बन कर आई है। 'इन्द्र' जी ने इन रचनाओं के माध्यम से स्वयं को समष्टि के साथ और समष्टि को अपने साथ सन्दर्भित और प्रतिश्रुत किया है।

पंख कटी मेहराबें

यह कृति अनुराग प्रकाशक नई दिल्ली से सन् 1978 में प्रकाशित देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' के कुछ विशिष्ट नवगीतों को प्रकाश में लाती है। इस समय देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' की काव्य-साधना की यात्रा तीन दशक पार कर चुकी थी। नवगीत-लेखन के क्षेत्र में देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' की अपनी एक अलग भूमिका रही है। कविता की यात्रा प्रक्रिया एक चक्रिम क्रम है। जहाँ कालगत आयामों में इसका प्रसरण ऊर्ध्वगामी है। कविता प्रत्येक बिन्दु पर अतीत से कुछ न कुछ ग्रहण करती हुई भविष्य की ओर बढ़ती है। इस प्रकार काल के बिन्दु विशेष पर मानव-जीवन के समस्त अतीत सन्दर्भ-उसका इतिहास, उसकी संस्कृति, उसका साहित्य-मानव-मात्र के ऐसे रिक्त के रूप में विद्यमान रहते हैं, जिनसे स्रष्टा प्रत्येक युग में कुछ पाता भी है और अन्ततः अपने मौलिक सृजन को उसमें मिलाकर पुनः लौटा देता है। 'पंख कटी मेहराबे' में कवि एक ओर पूर्व उल्लिखित निर्वैयक्तिक अजस्र धारा के क्रम में जुड़ा होने के कारण वैयक्तिकता का दावा नहीं रखता, दूसरी ओर उसका काव्य आज के संकलनों, पत्रिकाओं एवं दैनिकों में उगले जाने वाले यंत्र-चालित निर्माण-की सी एकरुपता रखने वाले काव्य नामधारी गद्य से भिन्न होने के कारण अपनी अलग पहचान और अस्मिता स्थापित करता है। 'पंख कटी मेहराबें' में कालिदास की प्रतिध्वनियाँ जितनी तीव्र है, कबीर का आक्रोश जितना प्रखर है, बीसवी शती का यथार्थ

भी उतने ही सही रुप में चित्रित है। 'पंख कटी मेहराबें' देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' की तीसरी काव्य कृति है।

इस संकलन में इन्द्र जी की 1973-74 में लिखी गई कुल 49 कविताएँ (नवगीत) संग्रहीत है। इस दशक में विषय और शिल्प की दृष्टि से इस विद्या में क्रांतिकारी परिवर्तन आया है। एक ओर उसका स्वर केवल रोमानी न होकर व्यंग्य, आक्रोश एवं युगबोध, को भी मुखरित करने में सक्षम हुआ है, दूसरी ओर उसने व्यक्ति चेतना का समष्टि चेतना के साथ गंभीर तादात्म्य अन्वेषित किया है। उसके छन्द विधान एवं अभिव्यंजना शिल्प में मौलिक परिवर्तन हुए हैं। 'नवगीत' के इस स्वरुप के निर्माण में 'इन्द्र' जी का महत् योगदान रहा है।

'पंख कटी मेहराबें' की समस्त रचनाओं को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है - (1) आक्रोश एवं व्यंग्य प्रधान रचनाएँ (2) आत्मगत सन्दर्भों के माध्यम से युग सत्य को मुखरित करने वाली रचनाएँ (3) वैयक्तिक चेतना से सम्पृक्त गहन रागात्मक अनुभूति प्रधान रचनाएँ। इस संकलन में अपने परिवेश के अन्याय, शोषण, उत्पीड़न एवं पद्म के प्रति गहरा आक्रोश भरा हुआ है कहीं यह आक्रोश सीधे-सीधे शब्दों में यथास्थिति-चित्रित है कहीं निडर निर्भय ललकार है, कहीं तिलमिला देने वाला व्यंग्य है तो कही मीठी-चुटीली पैनी धुरी-सी मार है। सत्ताधारी, राजनीतिक, साहित्यकार, धर्मनेता, समीक्षक सभी इन व्यंग्यवाणों के लक्ष्य बने हैं। कवि अपने व्यंग्य की मार को धारदार बनाने के लिए सामयिक शब्दावली का भी प्रयोग किया है और पौराणिक सन्दर्भों का भी।

चिर-उपेक्षा, शोषण एवं वंचनाओं का शिकार होने के बावजूद कवि अपने रास्ते पर अडिग है। वह अपने जीवन-रथ को मानव मूल्यों के जिस पथ पर आरूढ़ कर चुका है, उसे वह यातना सहकर भी छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। अपना न प्राप्य न मिलन का उसे अनुपात तो है पर केवल इसलिए वह शत्रु के शिविर में जाकर संधि करने के लिए तैयार नहीं है। नहीं, उसका तो निश्चय है कि - हारे या जीते रण में। इन कविताओं में मोह भंग की करुण-स्थितियों का चित्रण है। कवि ने जीवन से जो आशाएँ की थीं वे सभी अपूर्ण रहीं-

''हम तो हैं आँधी के तृण-
भीड़ों के साथ-साथ चल न सकेंगे
लौटा लो तुम अपना

फूलों का रथ
हमने तो अपनाया
शूलों का पथ
आ पहुँचा निर्णय का क्षण–
ये झूठे रिस्ते अब छल न सकेंगे
तुम्हें मिले राजमुकुट
या सिंहासन
हमने तो स्वयं चुना
चिर–निर्वासन
हारे या जीते अब रण
बर्फ की शिलाओं–से गल न सकेंगे।''[91]

आत्ममुग्धता की रेशमी छलनाएँ अन्ततः शेष रह गयीं या बचा रहा तो छिलके–सा गुठली–सा पछतावा। 'इन्द्र' जी के नवगीतों में पश्चाताप के ये क्षण कुछ पौराणिक आद्य बिम्बों में बहुत मार्मिक रूप से व्यक्त किये गए हैं। जिसे आप स्वयं महसूस कर सकते हैं–

''जिन्दगी ध्वस्त अलकापुरी
एक अभिशप्त–गन्धर्व की
किंवदन्ती बनी रह गयी
एक भूले विजय–पर्व की
मौन दुहरायगा कल जिसे
शोर में एक लमहा ठहर।''[92]

देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' की इन नवगीतों में स्वयं के व्यक्तित्व का अनुभास उभरकर सामने आता है। कवि इस तथ्य से अवगत है कि बिना संघर्ष के सिद्धि मंजरी पाना असंभव है, भले ही उसे फूलों के बदले काँटों का उपहार मिले। कवि के शब्दों में–

''इस लेन देन की दुनियादारी में
हम रहे उठाते जीवन भर घाटा,
घिस गयी एड़ियाँ भी आते–जाते
यों रोज न्याय की साँकल खटकाते
क्या हर प्रतिभा के साथ यही होता

काँटे वह चुनता, जो कि फूल बोता।''[93]

'इन्द्र' जी अपने इन नवगीतों में कहते हैं आज के आत्मकेन्द्रित नागरिक जीवन में अर्थहीन कोलाहल तो है, पर इसके साथ ही गहरा सूनापन भी है। भीड़ें तो हैं पर अपरिचय को साथ लिए हुए हैं। हर ओर केवल बेगानापन है। जब भी मनुष्य (व्यक्ति) जुड़ने की कोशिश किया है, उसका नाम काटा गया है, जिससे दूरियां बढ़ती गईं। हर बार अपमान-पराजय का ही सामना करना पड़ा। प्रस्तुत है कवि की वाणी-

''हर रिश्ते का खून यहाँ पर
लगता जमा-जमा
वर्तमान में अपना मन तो
क्षण भर नहीं रमा
इस नगरी में सब बेगाने
किसकी बाह गहें।
जब-जब जुड़ने की कोशिश की
नाम गया काटा
खाई बढ़ती गई कि जितना
जब उसको पाटा
यह अपमान-पराजय कब तक
बैठे और सहे।''[94]

'इन्द्र' जी अपने इन नवगीतों में कहते हैं कि हमसे दूसरे को कष्ट पहुँचता है अगर तकलीफ होती है तो यह हमारे लिए असहनीय है तभी तो मैं उस घर को छोड़ आया और बनजारे के समान भटक रहा हूँ इस नगरीय कोलाहल से अपना दुःख कह भी तो नहीं सकता। जिनके लिए मैंने अपना चैन खोया, उनको वह चैन मुबारक। अतीत का अपनापन लिए वह क्षण भी सपना बन गया। जीवन के काव्यमय सन्दर्भों के विलुप्त होने के साथ ही वह झील भी सूख गयी, कभी जिनके निर्मल जल का आचमन किया था। जहाँ क्षण-क्षण महाभारत मचा हो, वहाँ करुण-रस रामायण बाँचने का अर्थ समझ से बाहर है। कवि की लेखनी प्रस्तुत है-

''औरों की पीड़ा हम पल भर सह न सके
छोड़ दिया घर खुद पथ पर भी रह न सके
बंजारे बन भटक रहे द्वारे-द्वारे

कोलाहल से अपनी गाथा कह न सके

सपनों वाली नींद मुबारक हो उनको

जिनकी खातिर भूल गये जगन-सोना

मचा हुआ था जहाँ महाभारत क्षण-क्षण

वहाँ वाचते रहे करुण-रस रामायण।''[95]

कवि जहाँ भी भ्रष्टाचार, अनैतिकता और शोषण का ताण्डव नृत्य देखता है, वहाँ उसका व्यंग्यात्मक स्वर मुखरित हो उठता है। व्यंग्य के पीछे जो पीड़ा छिपी है, वह बाण की तरह पाठकों के हृदय में बेध देती है। आज व्यक्ति चालाक और धूर्त लोगों के साथ रहकर स्वार्थ साधते हैं, आदर्शों के धनी व्यक्ति के संग नहीं। इसी सन्दर्भ में कवि व्यंग्य करता हुआ कहता है-

''दुनिया का गम ढो-ढो कर

आप परेशान हो रहे

वे बंजारे चट्टानें हैं

आप जहाँ गीत बो रहे

बुलबुल को मत सराहिये

कौवें के होकर रहिये।''[96]

कहावतों-मुहावरों को भी इनके नवगीतों में देखा जा सकता है, इसको गीतो में पिरोने में इन्द्र जी खासी सफलता हांसिल की है, जैसे वक्त की आँधी मौत-सी-शाम, ढ़ल गयी उम्र, रेत के घरौंदे, मोम का कवच, एड़ियाँ घिसना आदि। उन्होंने अपने इस नवगीतों में एक सुन्दर बिंब प्रस्तुत किया है जो आज की, महज-सहज सामाजिक परिस्थितियों, परिदृश्यों का रेखांकन प्रस्तुत करने में पूर्णतः सफल हुआ है-

''मन को इस्पात कीजिये

तन से पर मोम दीखिये

हंसों के ताल में न जा

बगुलों से भक्ति सीखिये

आस्तीन में छुरी छिपा

राम-राम मुख से कहिये।''[97]

काल-चक्र के धनुष से वर्ष वाणों की तरह क्रमशः निकल जाते हैं-

''एक वर्ष और

चीरता उदास आसमान को
तीर-सा कमान से
निकल गया।''[98]

इन नवगीत में कवि के अनुभूत सत्य के साथ-साथ युग-सत्यकी गंभीर ध्वनि है। पसीना और खून से छन्द लिखना अब अनिवार्य नहीं है, क्यों मजमून से अधिक महत्व रंगीन लिफाफे का है। आज अंधी समीक्षा के बल पर लँगड़ी रचनाएँ गगन नाप रही हैं। आज के कवि को संबोधित करते हुए 'इन्द्र' जी लिखते हैं-

''दिव्य दृष्टि पायी है
हर क्षण की सार्थकता
सिर्फ आप जानते
तेजी से घूम रहे वृत्त में
सिर्फ आप-
मछली की आँख पहचानते
हम थे सूर्यपुत्र
दूर चले आये हैं
वंश से
संस्कृत के श्लोकों में
जुड़े हुए टुकड़े हैं
प्राकृत अपभ्रंश से।''[99]

मँहगाई की मार का एक अवलोकनीय परिदृश्यात्मक सामाजिक चित्र जिसके आगे कि किसी की किसी तरह भी न चल सकी और न ही चल सकेगी। जिस अनुपात से वस्तुओं की कीमतें आज आकाश को छूने के लिए ऊपर उठ रही है, उसी अनुपात से हमारे आदर्श और मानवीय मूल्य एक-एक कर धाराशायी और खण्डित होते जा रहे हैं। 'इन्द्र' जी लिखते हैं-

''आ बैठे हैं बगुले
हँसों की पाँत में
एक क्रांति भूखी है
हर सूखी आँत में
अग्नि-मुखी

मँहगाई में
सब चारों ओर से घिरे
भूल गए कोयल को
याद रहा कोयला
कब तक लावण्य-स्नेह
नोन-तेल दें भला
सूख गया
धारा का जल
रेती में नाव क्या तिरे।''[100]

अतीत की व्यतीत अनुभूतियों का अपना एक इतिहास होता है। जीवन-यात्रा कितनी दूर तय कर लेने पर भी कुछ प्रसंग घटनाएँ स्थितियाँ, बिछुड़े हुए साथी के चेहरे साँचों में ढ़ल कर हृदय की अक्षय निधि बन जाती है-

''कुछ प्रसंग ऐसे भी
आते हैं
जीवन में
कट कर हम बार-बार
जिनसे जुड़ जाते हैं
लक्ष्य तक पहुँचने पर
भीड़ों के वर्तमान चेहरों में
वे साथी ही अक्सर सुधि आते
जिनसे हम
फिर न कभी मिलने को
यात्रा के बीच बिछुड़ जाते हैं।''[101]

इन्द्र जी के पास अति बिम्ब-निर्माण-क्षमता एवं एक विशाल अनुभव संपदा है। उनके बिम्बों में जितनी विविधता है, उतनी ही पारिवारिकता भी है। वह लफ्जों की रूहो में उतर संसार की गहन पीड़ा, स्नेह भींगी आत्मीयता का एहसास कराते हैं। घर-परिवार के टूटते संवादों को चिन्ता का कारण बताते हैं। अपनी पूर्णता में व्यक्ति अपने अधूरेपन को ढूँढता हुआ समय में हाथ तल्ख सच्चाइयों के कुछ टूटे हुए दरपनों के टुकड़े रख देता है-

"छाती से चिपका
अतीत की यादों को
पछतावे में
झुका-झुका-सा साथ लिये
टूटे इन्द्रधनुष
मुरझायी पंखड़ियाँ
घायल सपने
खण्डित-दर्पण हाथ लिये
कब तक और चढ़ोगे गम की मीनारें
सागर के नीले जल में कुछ झाँकिये।"[102]

आज व्यक्ति व्यवसायिक हो गया है और वह जितना ही व्यवसायिक है उतना ही उच्चस्तरीय माना जाता है। जो जितना प्रबुद्ध दिखता है उतना ही पथ विरुद्ध होता है। व्यक्ति भीतर से जितना खोखला है ऊपर से वह उतना ही आदर्श और प्रदर्शन का आवरण ओढ़कर नकली अभिनय करता है-

"भीतर जितना धूँधला पत्र लेख
उतना रंगीन है लिफाफा।"[103]

बींसवीं शती के उतरार्द्ध में भारतीय जीवन में हर दिशा में वृद्धि हुई है इसे आपा-धापी के युग कह सकते हैं। इस काल में राजनीति अनीति का पर्याय बनी साहित्य अखबार और गाली गलौज हुआ तथा धर्म और जाति, बोट, नौकरियाँ पाने का आधार बनीं। ऐसी स्थिति में मूल्यनिष्ठ ईमानदार नागरिक को शोषण, यातना एवं उपेक्षा ही मिली। हर क्षेत्र में नकल असल से बाजी मार ले गई। लम्पट और संत में अन्तर करना कठिन हो गया। सफेद लिबास में दिखने वाले राज-नेता सब के सब फरेबी निकले। इसी सत्य को कवि अपनी लेखनी द्वारा प्रस्तुत करते हैं-

"हम जिन आदर्शों के वास्ते लड़े
भीतर से निकले वे खोखले बड़े
सत्य और मिथ्या
सब एक लगे अन्त में
कर पाये भेद कहाँ
लम्पट में, सन्त में

सब के सबवेमन के काले निकले
तन पर जो पहने थे उजले कपड़े
हंस शयन करते थे
चीलों के नीड़ में
भाषण देते गूँगे
बहरों की भीड़ में।''[104]

उन्हें खोटी दुनियां की खोट सदा कचोटती रही है। हाथ लिए पछतावा, बाकी सब दावा दामन में मुरझाया। समाज में फैली उच्छृंखलता और विसंगतियों, छल, फरेब से कवि का मन कितना पीड़ित है, इसका अनुमान इस नवगीत मिल जायेगा–

''झोली भर प्रश्नों के अंगारे
चुटकी भर राख समाधान
किस्म–किस्म की पुड़िया
गण्डे, ताबीज भरे
आप जेब में
भरमाते यों कब तक
अपने ही शब्दों के
छल फरेब में
अब समेट लीजिये खिलौने ये
और बन्द कीजिये दुकान।''[105]

पराजय की स्थितियों का गंभीर विश्लेषण इस नवगीत में किया गया है। कवि इसलिए नहीं हारा कि वह अयोग्य था अथवा उसमें क्षमताएँ नहीं थीं, अपितु उसकी हार के तो बाह्य कारण थे। उसे ज्ञात नही था कि सुविधा–भोगी अभिधा की नगरी में उसकी व्यंजना–शैली की कोई पूछ नहीं है। दरबार में जाकर कुर्सी के आगे झुके बिना, चौपाल में चौधरी की चिलम भरे बिना, पूँछ हिलाए बिना अथवा निन्दा चुगली और खुशामद किये बिना उसको कैसे स्वीकारा जा सकता। कवि का आचरण तो इस सबके विपरीत ही रहा। मौलिकता की ऐंठ में उसकी विसात यों ही धरी रही। ऐसी स्थिति में असफलता ही जीवन की परिणति हो सकती है। कवि की लेखनी द्रष्टव्य है–

''भागे किसके पीछे
धनुष वाण लिये हाथ में

अब कोई भ्रम नहीं रहा
आ पहुँचे है हम उस बीहड़ में
जिसके आगे कोई राह नहीं
ज्योत्सना के वृत्त जहाँ मुरझाये
शेष रहा किरणों में दाह नहीं
डरी-डरी खामोशी
जा दुबकी शिखरों की गोद में
जहरीले ताल में नहा
बड़े-बड़े मंसूबे बाँधे थे
इस आपाधापी में कुछ न हुआ
गंधों के लेख सभी पथराये
सपनों की उँगली से जिन्हें छुआ
लो, सब कुछ व्यर्थ गया
अपनापन भीड़ों की बाढ़ में
टूटते कगार-सा ढहा।

या

कितनी बार गया है तू दरबार में
कितनी बार झुका कुर्सी के सामने
निन्दा, चुगली, घूस, खुशामद
करना खीस निपोर कर / हमने सीखा मूल-मन्त्र यह
चौराहे पर शोर कर।''[106]

कवि ने अपने व्यंग्य की मार को धारदार बनाने के लिए सामयिक शब्दावली का भी प्रयोग किया है और पौराणिक संदर्भों का भी। काशी का पंडित बनने की महत्वाकांक्षा को त्याग कर वह खुले रूप में लुकाठी हाथ में लेकर चलने वाला मगहर का संत बन गया है। वस्तुतः यह विषय ऐसा है जिसके साथ-साथ काव्यत्व का निर्वाह अत्यन्त कठिन होता है, लेकिन 'इन्द्र' जी की यह बहुत बड़ी उपलब्धि है कि युग के यथार्थ को वाणी देते हुए भी इस वर्ग की रचनाएँ काव्य तत्वों से हीन नहीं हो पायी है, प्रस्तुत है कवि की वाणी-

''काशी के पण्डित हम हो लेंगे कल

आज बना रहने दो मगहर का संत
अपना घर फूँक कर तमाशा अब
देक रहे हैं हम चौराहे पर
बड़े जतन से जिसको ओढ़ा था
ज्यों की त्यों धरदी लो, वह चादर
जली हुई, हाथ में, लुकाठी लेकर
अनहद से मिला रहे आदि और अन्त।''[107]

व्यक्तिगत अनुभवों से शून्य होकर कविता लिखना असंभ है। कवि भोगे हुए सत्य को कविता में रूपायित करता है। कविता कवि के व्यक्तित्व का निर्माण करती है। संवेदनशील कवि हृदय की कोमल अनुभूतियों के संचित कोष को नेह-नीड़ में सँजो कर उनसे नयी ऊर्जा प्राप्त करता है। यही विशिष्टता उसे साधारण व्यक्ति से पृथक, अस्तित्व प्रदान करती है। कविता सदाबहार भावना की आत्मजा है जो अभाव के घर में फूलती-फलती है और जीवन के यथार्थ से उसकी डोर बँधी हुई है। कविहृदय-मंदिर की साधना कविता-प्रतिभा को समर्पित है-

''यह सदाबहार भावना की बेटी
जो पली अभावों के घर में रहकर
नकली भीड़ों का शोर नहीं इसमें
यह तो वैयक्तिकता का दर्पण है
मंचों के मिथ्या-आश्वासन वालों
यह मंदिर का एकान्त-समर्पण है
जीवन-यथार्थ से गाँठ जुड़ी इसकी
कब चली नीरे आदर्शों को गह कर।''[108]

काल के पृष्ठ भले ही धूमिल हो जायें पर उन पर लिखी रश्मिलिपि की भावभीनी कर्पूरी यादों की सुगन्ध कवि के हृदय की धड़कन की अंग बन जाती हैं-

''काल के धूमिल क्षितिज पर अस्तमित दिनमान की
चिर अनंकित रश्मिलिपियों के अधूरे पत्र-सा
फिर पवन की सुरभि प्रेरित पंख पर उड्डीन हो
मैं तुम्हारे किसलयी
उच्छ्वसित अम्बर में तिरा।''[109]

एक प्राकृतिक परिदृश्य के माध्यम से समाज को मिथ्या आश्वासनों से भुनाने वालों के प्रति कटाक्ष करते हुए 'इन्द्र' जी लिखते हैं-

''संध्या के सूरज से
कब तक यह दीप-शिखा
राह बूझती
मोह भंग होने पर
खुद ही अँधियारे से
आँख जूझती
इस उड़ते-उड़ते आश्वासन से
अच्छी है लंगड़ी पहचान।''[110]

राजनीति-चाल-ढ़ाल की पहचान दुनिया के लोगों से छिपी नहीं है। अजनबी नहीं है। जिसे अपना समझ तन-मन-धन से सबकुछ अर्पण करते हुए भी सर्वहारा का आर्त-नाद, राजनीति के कूट और कुटिल शोर गुल हो ही जाता है। क्योंकि -

''धुन खाये चन्दन के फ्रेमों में
फीके पड़ गए रंग चित्रों के
कूड़े की ढ़ेरी पर मस्तल में
घुमड़-घुमड़ बरसे घन इत्रों के
जितना भी कहा गया
जम गया शिलाओं-सा शोर में
धारा में अनकहा बहा।''[111]

महाभारत काल में जो-जो घटनाएँ घटी थीं, वे आज भी घट रही हैं। इन्हीं विकृत स्थितियों, विघटति जीवन-मूल्यों, विसंगतियों आदि को पौराणिक सन्दर्भों में अभिव्यक्त करना कवि का लक्ष्य रहा है। गीतकार अनुभव करता है कि आज जीवन के महाभारत में हर आम व्यक्ति अभिमन्यु के समान है जो छली, प्रपंची लोगों के व्यूह में घिरा है-

''कहाँ चला आया तू
वापस घर
लौट ले
कैसे लड़ पायेगा
लाखों की भीड़ में

एक तू निहत्था

तू

जिसके द्वार पर खड़ा

भीतर उस

चक्रव्यूह में तेरे वास्ते

ईहामृग।

घूम रहा गुर्राते शेरों का जत्था।''[112]

सामान्य जन-जीवन में एक विखराव, एक तनहाई, एक टूटन, दौड़-धूप, आपा-धापी, भूख-प्यास, बीमारी- यह सब अधिक रह गया है, जिनसे छटपटा कर आम आदमी कभी आक्रोश और कभी बेबसी और घुटन महसूस करता है। संवेदनाओं एवं भावनाओं को कवि व्यक्त करते समय स्पष्टवादिता को नहीं छोड़ता। कवि अपने हृदय के उदगार व्यक्त करता है-

''दुनिया यह

आनी-जानी-फानी

भूख-प्यास-बिमारी

क्रांति या कि आक्रमण

आते-जाते क्षण-क्षण

दुबला मत हो प्यारे

शहर के अँदेशे से

सबको अपने-अपने कर्मों की

भोगनी सजा।''[113]

कालजयी रचना में भाव और कल्पना के साथ विचार का भी गंभीर संश्लेषण रहता है क्यों कि कला उपजीव्य भाव प्रत्यक्ष रूप में एवं विचार परोक्ष रूप में होते हैं। इस संग्रह की प्रकृति चित्रण प्रधान कविताओं को भी इसी वर्ग के अन्तर्गत रखा जाना चाहिए क्यों कि यहाँ प्रकृति चित्रण न तो बिहारी की भाँति उद्दीपन के रुप में है और न पंत की भाँति वर्ण्य विषय के रूप में अपितु वह मनः स्थितियों के साथ अन्तर्भूत हैं। भावों की ऐसी उदात्त अभिव्यक्ति निम्न पंक्तियों में देखी जा सकती है-

''फिर कहीं

निः स्वर वनान्तों के अरूपित श्रृंग से

ज्योति–शिल्पी के करों से

कनक–वलय–भ्रंश–सा

धूप का टुकड़ा

सहम कर

जा गिरा

अतलान्त में

चीरता संवेदना का वक्ष गैरिक दंश–सा।''[114]

कवि के मनःस्थिति के अनुरूप दोपहरी गर्मी का सप्राण चित्रण किया गया है–

''यह अमलतास के पीले–पीले फूलों वाली दोपहरी

ये अहि–मयूर–मृग–बाघ सभी

भीषण प्रदाह में हाँफ रहे

आँधी से हिलती शाखों पर

सन्तप्त झकोरे काँप रहे।''[115]

इसी नवगीत में 'दोपहरी' की ऐसी रचनाएँ भी हैं जिनमें एक ओर नवगीत की वस्तुपरकता विद्यमान है, तो दूसरी ओर दृश्य का सप्राण–चित्रण विराट् बिम्बों के माध्यम से हुआ है, जिसका आधार है पारदर्शी कल्पना–

''बरगद के पत्तों में छिप कर

बैठी सूरज की किरनों ने

वन–वन भटके, सैकत–तटके

रीते पनघट के हिरनों ने

पी लिया झील का नीर कि जो कल तक लगती थी हरी–भरी

खण्डित जल–पोतों के उखड़े मस्तूलों वाली दोपहरी

फिर ग्रीष्म–वधिक की ओर देख गोरुपधरा सहमी, सिहरी

निर्जन में भटकी झाड़ करील बबूलों वाली दोपहरी।''[116]

यह परम सत्य है यादों की केंचुली छोड़ कर समय का सर्प चुपके से सरक जाता है और सुख के बाद दुःख का एहसास दिलाता है। कवि की लेखनी इसी सत्य को उद्घोषित करते हुए कहती है–

''बिछा पगडण्डियों पर धूल की यायावरी–कैंचुल

समय का सर्प चुपके से फिसल कर बढ़ गया आगे

सुलगती अंजली में रोशनी के फूल मुरझाये
बुझी नीरांजना का दीप लेकर हम कहाँ जायें।''[117]

प्रकृति के माद्यम से काव्य-बिंब रचने में कवि सिद्ध हस्त है। उनके यहाँ शब्द के साधारण अर्थ भी इन संदर्भों में असाधारणत्व प्राप्त कर लेते हैं-

''शेरों के आगे तू पूँछ हिला
नीची रख मूँछ
और हिरणों पर झूँक
जुगनू है, इससे क्या
दुपहर के सूरज पर थूक।''[118]

प्रजा रूपी बकरी एवं भेड़े मिमियाती हुई राजा के पास न्याय माँगने पहुँची भी है तो उसके लिए सत्ता की संगीनें तन गयी हैं। सत्ता की क्रूरता, अनीति आदि पर इससे करारा व्यंग्य क्या हो सकता है-

''साहस कैसे हुआ
डाल कर घिराव ये खड़ी
मुट्ठी भर घास के लिये
        सिंहद्वार पर
        बदनसीब बकरी और भेड़े
चलो बन्धु ! संगीने ताने
शुभ मुहूर्त आया है
अभ्यास जड़ता को तोड़े
शर इन पर अपने सन्धानें
फिर न इधर आने की
राजा को नींद से जगाने की
नाहक ये कल्पना करें
मरती है भूख से, मरें
शक्ति और हिंसा के घोड़ों को एड़ें
चलो, इन्हें द्वार से खदेड़े।''[119]

इन्द्र जी के गीतों में अभिधा शब्द शक्ति की उपेक्षा लक्षणा और व्यंजना शब्द-शक्तियों का स्वर प्रधान है। उच्च वर्ग की चमक-दमक का पर्दाफाश करने के लिए कवि

ने 'चादर' शब्द के वृत में जिस कथ्य को सम्प्रेषित किया है, वह लक्षणा का चमत्कार है-

''लकदक
चमचम
रेशमी वाली
जो चादर तुम ओढ़ निकलते
पानी भरे हुए गड्ढों औ'
कीचड़ वाले राजमार्ग में
अच्छा होता
यदि यह चादर
थोड़ी-सी तो मैली होती।''[120]

कवि मन अपनी प्रौढ़ावस्था को प्राप्त कर बदलते समय को न सहेज पाने की दशा में अपने भीतर के बदलाव के लिए छटपटा उठता है। उनकी यही छटपटाहट जब अपने विगत का वर्तमान में विधान करने को सोचती है तो उन्हें कहना पड़ता है-

''चिकनी सतहों से फिसलें
अच्छा हो खुद को बदले
शिखरों पर बहुत चढ़ लिये
घाटी के सूर्य बन ढ़लें
भाषा की नब्ज छोड़कर
फेंट रहे आप व्याकरण।''[121]

उन्हें खोटी दुनियां की खोट सदा कचोटती रही है। हाथ लिये पछतावा बाकी सब दावा दामन में ही मुरझाया फिर भी चलो पूरा हो गया यात्रा का एक वृत्त। कटु सत्य कहने में कोई पछतावा न हो, किसी को राह बतलाने में यदि काँटें चुभें तो भी नये रास्ते अभिसंधित्सु की इच्छा-

''पूरा हो गया चलो
यात्रा का एक वृत्त
ऊपर तो चढ़ न सके
चिकनी थी सीधी मीनार
खण्डित संकल्प के चरण

घाटी में फिसले हर बार
जहाँ से चले थे कल
आ पहुँचे आज उसी ठौर।''[122]

पंख कटी मेहराबें इन्द्र जी की एक बहुत सफल कृति है। क्यों कि इसमें भाव और अभिव्यक्ति की – विषय और शिल्प की – **'वागर्थाविव संपृक्तौ'** अथवा **'गिरा अर्थ जल बीचि सम'** स्थिति है, लेकिन शिल्प विवेचन का महत्व अलग से इस रूप में होता है कि इसके द्वारा हम कवि की मौलिकता को पहचान सकते हैं। अनुभूति वैयक्तिक होकर भी सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक क्षमता रखती है। कविता में मौलिकता का आधार प्रथमतः अभिव्यक्ति ही होता है क्यों कि कविता मौलिक सर्जना है–एक रूप निर्माण नहीं। 'इन्द्र' जी का काव्य–शिल्प परंपरा के साथ जुड़ा होकर भी मौलिक एवं नवीन है।

राजेन्द्र गौतम जी के शब्दों में – ''इस संकलन की जिन कविताओं को हमने दूसरे वर्ग में रखा है, उसकी सृष्टि भी आधुनिक सन्दर्भों की प्रतिक्रिया में हुई है, पर उनमे व्यंग्यात्मक अथवा आक्रोश न होकर एक विवश वेदना संकुल स्थिति का चित्रण है।''

इस संकलन की लगभग एक चौथाई रचनाएँ ऐसी हैं जो अनुभूति के धरातल पर जितनी वैयक्तिक है, अभिव्यक्ति के वैशिष्ट्य में वे उतनी निर्वैयक्तिक भी। भावों के स्वच्छन्द धरातल पर ये जितनी आवेगमयी हैं अपने रचना विधान में उतनी ही क्लैसिक। इन्हें ही राजेन्द्र गौतम जी ने तीसरे वर्ग के अन्तर्गत रखा है। गहनतम अनुभूतियों के क्षण अत्यन्त विरल होते हैं जिनका काव्य में प्रस्तुतीकरण और भी कठिन होता है। क्यों कि मुखर रूप में भाषा हमारी अनुभूतियों को व्यक्त करने का प्रयत्न भी करती है, उसकी पूर्णतः अभिव्यक्ति तो उसके द्वारा भी संभव नहीं है।

'इन्द्र' जी बहुत ही श्रेष्ठ प्रतिभा संपन्न कवि हैं। कल्पना और अनुभूति का सान्द्र रसभाव ही इस प्रकार की रचना प्रक्रिया का आधार होता है। इस संग्रह की 'शंख पुष्पी' 'पारदर्शी मौन' 'कैंचुल' 'नील नलिन–नयना' और 'पंख कटे शब्द' जैसी कुछ रचनाओं में अनुभूति की शाश्वता के साथ–साथ शिल्प का कालजयी रूप उभरा है। संख्या में अल्प होते हुए भी ये रचनाएँ काव्य–शिल्प की दृष्टि से सर्वात्कृष्ट है।

कविता एक सावयव रचना है। अतः शिल्प विश्लेषण का अर्थ उसके अंगों का गणितीय परिगणन नहीं होता तथापि कुछ सामान्य आधारभूत तत्व अवश्य होते हैं, जिन्हें हम शिल्प के घटक कह सकते हैं। मुख्यतः ये हैं–भाषा, बिम्ब, अप्रस्तुत एवं छन्द।

वर्तमान जीवन की विसंगतियाँ इस संग्रह के नवगीतों में स्पष्ट रुप से उभरी है।

छायावाद के बाद की पीढ़ी में 'इन्द्र' जी की छन्द के क्षेत्र में देन चिरस्मरणीय रहेगी।

समग्रतः इस संकलन का काव्य उत्कृष्ट एवं मौलिक ही नहीं प्रत्येक दृष्टि से अत्यन्त परिष्कृत एवं कला के अभिजात गुणों से सम्पन्न है।

दिन पाटलीपुत्र हुए

यह कृति (प्रवीण प्रकाशन नई दिल्ली सन् 1988 में) देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' के कुछ विशिष्ट नवगीतों को प्रकाश में लाती है। इस समय देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' जी की काव्य-साधना की यात्रा चार लम्बे दशक पार कर चुकी थी। प्रकाशित रूप में 'पथरीले शोर' (कविता संग्रह) और 'कालजली' (प्रबन्ध-काव्य) के बाद 'पंख कटी मेहराबें' और 'दिन पाटलीपुत्र हुए' उनकी चौथी काव्य कृति है। नवगीत के क्षेत्र में देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' की अपनी एक अलग पहचान है। इसी पहचान को प्रकाशित करती हुई यह प्रति उनके नवगीतों का प्रतिनिधित्व करती है। इनके गीतों की अतृप्त अंजलियों में जाने-अनजाने संस्कृति के ये मेदुर-मन्दार समय-समय पर अपने अनगढ़ रंगों और अपछायाओं की सम्मोहिनी वर्षा करते रहे हैं। चार दशकों की इनकी अनतिसंक्षिप्त काव्या-यात्रा में कम्य कल्पना ने भी संस्कृति की स्वप्नवीथियो की कुहरिल कुजगलियों को सहमते-सकुचते अपनी पगचापों से क्वणित-रणित किया है। विगत दो दशकों से नवगीत की विकास-यात्रा से सम्पृक्त रहने के फलस्वरुप जहाँ, इन्होंने अनुभूति, संवेदना और संकल्पना के अतिरिक्त छान्दस शिल्प के उपकरणों की दिशा में नवीनता के संधान को लेकर कुछ प्रयास किये हैं और गीतों को सम्प्रेष्य बनाने की कांक्षा से कतिपय भाषिक-आविष्कार किये वहाँ अपनी सर्जनीय चेतना के नाम पर आन्दोलित संस्कृति के उस प्रसून को भी सुरक्षित रखा। जिसने अपनी अस्मिता की पुराख्यान, पुरा-प्रतीक, पुराबिम्बों से सार्थक किया है।

बीस वर्षों के अन्तराल में रचे गये इनके सेंकड़ों गीत जितने प्राचीनतावादी मिलेंगे उतने ही आधुनिकतावादी भी। यही कारण है कि अंग्रेज पीढ़ी के रचनाकारों की दृष्टि में इनकेये गीत जितने नवीन हैं, उतने ही समकालिक। सहयात्रियों की दृष्टि में प्राचीनता के मोह से आविष्ट और आक्रान्त, किन्तु जैसे-जैसे अवस्था, अनुभव और प्रौढ़ि के सुचिक्कण शिखरों पर इनकी मनीषा ने जो आरोहावरोहण किया वैसे-वैसे पुरातन का भेद भी बेईमानी होता चला गया। इन्द्र जी का मानना है - ''ऊपर-ऊपर से सबकुछ बदल

जाने पर भी अपने अतल अन्तस्तल में कहीं कुछ भी तो नहीं बदलता।'' वह तो वस्तुओं, घटनाओं दृश्यों के प्रति इनका साक्षीभाव है जो बदलता रहता है। इस साक्षीभाव में परिवर्तन होने के साथ-साथ चेतना भी कुछ काल के लिए नव-नव रुपाविधानों से आत्मीयता पूर्ण आसंमत स्थापित करती चलती है।

हम समझते हैं कि हम प्रौढ़ हो गये हैं और हमारी प्रौढ़ि के समानान्तर काल के मञ्च पर कुछ भिन्न पटापेक्ष अथवा दृश्य-परिवर्तन भी घटित हो गया है, किन्तु यह सब एक क्षणस्थायी सुखद विभ्रम ही है, जिसकी मरीचिका के पीछे-पीछे हम अधिज्यधन्तावद्धपरिकर दिशाहीन-यायावरी करते रहते हैं अपने दुरधिगम्य जीवन के घटना क्रम में।

आज सामान्यतः दो प्रकार के नवगीत लिखे जा रहे हैं-नगर अथवा महानगर-संबोध प्रधान नवगीत और जनपदीय चेतना समन्वित आञ्चलिक नवगीत। ये दोनों परस्पर प्रतिस्पर्धी न होकर परिपूरक ही हैं। यदि पहले प्रकार का नवगीत एक सीमा तक अपने कथ्य और जीवन-दर्शन में नयी कविता के समकक्ष ठहरता है, तो दूसरी प्रकार का नवगीत लोकगीत की परिधियों को छूने का प्रयास करता है, किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि इन दोनों ही स्थितियों में नवगीत न्यूनाधिक मात्रा में परमुखापेक्षी होकर रह जायेगा। ऐसी परिस्थिति में अपेक्षित यही होगा कि उसे एक ऐसा ठोस सांस्कृतिक आधार प्रदान करें जिसपर खड़ा होकर आगामी विकास यात्रा का कार्यक्रम बना सके। छायावादी एवं प्रयोगधर्मी नयी कविता के जब प्रतिमान निश्चित कर दिये गये थे, तभी उनके अचिर-अवसान की घण्टियाँ बजने लगी थीं। नवगीत को इस आसन्न खतरे से सावधान रहना होगा। एक श्रेष्ठ रचनकार पर प्रत्ययनेय बनने की अपेक्षा अपने-आपको अननुकर्ता और मौलिक कहलाना ही अधिक पसन्द करता है।

जड़तावादी भौतिक उपलब्धियों की घुम-कुहर राशि धीरे-धीरे नगरों और महनगरों के आकाश की लीलकर हमारे ग्रामीण अंचलों और जनपदों के पर्यावरण को भी प्रदूषित करने लगी है। 'गोदान' के गोबर और झुनिया जब-जब अपने पैतृक गाँव में शहर से आये हैं, तब-तब अपने साथ किसी न किसी नई विकृति को भी अपने साथ लेकर आये हैं। इस आयातित संस्कृति के प्रभाव ने न केवल हमारी जीवन पद्धति की चूलों को ढीला किया, प्रत्युत हमारी सौन्दर्याभिरुचि को भी गहरे 'शॉक्स' प्रदान किये हैं। हमारी अरण्यक-संस्कृति के ऊपर महानगरीय सभ्यता ने जैसा आक्रमण किया, उससे हमारे जैविक-नियमों तक में परिवर्तन लक्षित होने लगा है। आज के युवा वर्ग में जो स्त्रैणता

और युवतीवर्ग में जो मर्दानापन आ रहा है उसके फलस्वरुप आधुनिक नारी न तो सीता, सावित्री, दुर्गा मैत्रेयी गार्गी के साथ अपना तादात्म्य कर पा रही है और न ही श्रद्धा, राधा, शकुन्तला, वासवदत्ता अथवा देवसेना के साथ ही। मदिरा, चरस, गाँजा, तम्बाकू और स्मैक जैसे मादक-पदार्थों के सेवन में वह अपने पुरुष-साथी से किसी प्रकार पीछे नहीं रहना चाहती। सेवा, समर्पण, सहिष्णुता और मातृत्व के दायित्व को आज वह अपने 'मुक्ति-आन्दोलन' के आवेश में मध्यकालीन-दकियानूसी कहकर छोड़ती जा रही है। अपने रुप-यौवन और कमनीय देहयष्टि को जहाँ वह अपनी सामाजिक प्रोन्नति के लिए एक अमोध साधन मान बैठी है, वहाँ अपनी अतिरिक्त जागरुकता के फलस्वरुप भद्रसमाज से प्राप्त आदर और स्नेह भाव को पुरुष की चाटुकारिता और शोषण का एक तरीका समझने लगी है। इस अतिरेक की दुर्भाग्यपूर्ण परिणति हम विवाह के नाम पर तेजी से होनेवाले पारिवारिक-विघटन में रोज ही देख जा रहे हैं। हमारी दृष्टि में यह कोई शुभङ्कर स्थिति नहीं है। यह अपने आप में एक अस्वाभाविक प्रतिक्रिया का ही ध्रुवान्त है। नदी का व्यक्तित्व पर्वत और समुद्र से जुड़े रहकर ही सार्थकता और सम्पूर्णता प्राप्त कर पाता है। उनसे विलग होने पर वह मरुस्थल में भटकते-भटकते नामशेष ही रह जाती है।

सांस्कृतिक आयोजनों की आज जिस रूप में परिकल्पना की जाती है वह अर्द्धनग्ननृत्य और उत्तेजक संगीत से आगे नहीं जा पाती। देहवाद ने आज आत्मवाद को पूरी तरह अपना ग्रास बना लिया है और उसको स्पांसर करने के लिए आज की नारी नर समाज के साथ सम्पूर्ण भागीदारी की भूमिका निभा रही है, स्थितियों के इस विपर्यास ने संस्कृति, साहित्य, दर्शन और कला चेतना के सम्मुख एक विराट् प्रश्न चिन्ह लगा दिया है।

चिरकाल से ही संस्कृति को सामूहिक चेतना का प्रतिफल माना जाता रहा है। वह एक व्यक्तीय उपलब्धि न होकर बहुजनसमन्वित साधना ही रही है। मानव चेतना के वृत्त पर विकसित होने वाले सर्वाधिक रंगीन और सौरभपूर्ण सुमन को शब्दमयी सृष्टि में संस्कृति की संज्ञा से अभिहित किया जाता रहा है। सभ्यता की शाखाओं पर मिलने वाले फूल तो अपनी-अपनी महकती ऋतु का साहचर्य निभाकर एक-न-एक दिन मुरझाकर चुपचाप धूलिसात् हो जाते हैं- काल के अक्षुण्ण प्रवाही एवं चक्रमणशील जलावर्त के समान। साहित्य, काव्य और ललित कलाएँ उसी सुमन की स्निग्ध पंखड़ियाँ हैं जो रूपलिप्सु नेत्रों के तोरणों पर वन्दनवार के रूप में दोलायित होती रहती हैं। भारत के क्रान्तदर्शी कवियों की अनाविल दृष्टि को संस्कृति के इस सहस्रार-सुमन ने चिर-काल से

ही अपनी ओर आकृष्ट किया है। सम्यताओं के उच्चारूढ़ शिखरों एवं उपत्यकाओं में रमने वाली आँखों ने जब-जब ऐहिकता की धूलि को किरकिराहट के तौर पर झेला है तब-तब संस्कृतियों के नंदन-कानन के कमनीय कमल चुननेवाली सर्जकीय दृष्टि ने सदैव किसी-न-किसी अनवद्य-हृद्य शीतल नीहार-मञ्जरी का नवोन्मेष किया है।

इन्द्र जी अपने नवगीतों में प्रेम को एक शाश्वत संवेद माना है। इस संवेद से निकल पाना कवि के लिए कठिन होता है। तभी तो इन्द्र जी को यह कहने के लिए वाध्य होना पड़ता है-

"देखकर जिनको उमड़ती है
हृदय-मेरु में स्नेह-पुष्करिणी
पुपुत्सा की आर्द्र-पलकों में
काँपती चिर वत्सला - हरिणी
स्मृति पटल के मुक्त क्षितिजों पर
उड़ चले वन-हंस के जोड़े।
आँख भर आयी उदासी की
पुरइनों पर धिरे जल-सीकार
वंचना के दुर्ग ही ढाहे
क्या मिला इतने दिनों जी कर
कान में फिर कह गया कोई
दिन बचे बनवास के थोड़े।"[123]

मूल्यहीनता और विचारों में आई अधोगामिता के कारण सब-कुछ उलट-सा गया है जो प्रिय था अप्रिय हो गया है देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' जी के शब्दों में प्रस्तुत पंक्तियाँ साक्षी है-

"कल तक तो काजल था
लयवन्ती
पलकों का
आँसू-सा बाहर अब
कर दिया गया है।"[124]

जीवन-मरण की अनन्त लीला को कवि अपने पलकों की पंखुड़ियों की अंश्रुओं में भिंगोकर लिख डाला है, जो मानव-हृदय को स्पर्श कर जाता है-

"चलो, इस दीप को भी अब
नदी तट पर सिरा आएँ
जलाया था इसे कल
दीप था यह नेह-नातों का
विलम्बित गीत था वन में
अंधेरों के किरातों का
न अब गोधूलि के
पाटल कपोलों पर
थिरकती है
अनाम रश्मियों के
चुम्बनों की छन्द लेकाएँ।"[125]

यह कहना असंगत न होगा कि भावुकता की दृष्टि से छायावादी कवियों की तरह इन्द्र 'जी' ने भी भीतरी सौन्दर्य के साथ नारी-सौन्दर्य को गढ़ा है। कवि नारी के देह-व्यापार की प्रणय-कथा के स्थान पर सौन्दर्य के समग्र प्रभाव की व्यंजना करता है-

"प्यास का सूखा सरोवर मैं
तृप्ति की जलहंसिनी हो तुम
तुम कि जैसे
क्षीर-सागर में
सद्यस्नाता लयवती पूनम
छेड़ती मरु के
दिगन्दों में
शबनमी अभिसार की सरगम
मौन का अमिशप्त आखर में
रागिनी स्वरपंखिनी हो तुम।"[126]

मानव-हृदय की अनुभूतियाँ अभिव्यक्ति की धरातल पर आने के लिए छटपटाती है। कहने न कहने के बीच तनाव की स्थिति काव्य-सृजन प्रक्रिया की भूमिका है। हृदय में तरंगित भावनाओं के ज्वार को स्वर्णिम अक्षरों में बाँध कर भी तृप्त नहीं होता-

"नीली भाषा के हर स्वर्णाक्षर में
गीतांजलियों के ज्वरित सागर में

यह जो कुछ तुम सुनते हो

एक कंठ विषपायी है।''[127]

कवि यशोधरा के रप में माँ के हृदय की पीड़ा को साकार कर नारी-जाति के गरिमामय सत्य को उद्घाटित किया है। पत्नी-पुत्र के सम्मोहन-आकर्षक को छोड़कर तथागत संयास का शंख प्राप्त करने वन को गए हैं। कवि का मानना है स्वप्निल संसार से विरक्त होकर निर्वाण-प्राप्ति में जीवन की सार्थकता नहीं है-

''काफिला यह

डूब जायेगा

लौट आ इस धुएँ के पुल से।

छोड़कर इस स्वप्न संस्कृति को

शून्य में निर्वाण का पद ले

सत्य कब पाया तथागत ने

बेच मुरली शंख के बदले

उठा बाँहें

यशोधरा कहती

मुक्ति-कामी पुत्र राहुल से।''[128]

'इन्द्र' जी के इन यथार्थवादी गीतों का परिवेश बहुत व्यापक है। गाँव, कस्बे, जनपद, नगर, महानगर के चिन्तनीय पक्ष बार-बार उनके नवगीतों में उभर कर आये हैं। भीड़ में खोये हुए व्यक्ति की अस्मिता, ईमानदारी, सादगी, सामाजिक और आर्थिक तनाव, मानवीय मूल्यों का ह्रास इनके नवगीतों की साँस-साँस में धड़कता है। एक बार फिर अतीत की यादें, जिसमें कवि का बचपन खो-सा गया है मनोजगत पर लहराती है-

''कहाँ गये दही-माछ वाले दिन ?

कहाँ गये दूध-छाछ वाले दिन ?

सड़कों पर भटक गये बचपन के गरियारे

साँसों से चिपटी नागिन-सी मायापुरी

सूर्यास्तों वाले उस सेन्दुरी सरोवर में

लहरों पर घूट गई किरणों की बाँसुरी

स्वप्न हुई गायत्री ऊषाएँ

कहाँ गये फूल-गाछ वाले दिन

यह कैसा अनचाही भीड़ों से समझौता
रिश्तों से जुड़ना या किश्तों में टूटना
नहीं रहे अब कदम्ब छाँहों वाले नाते
मुरली की मनुहारे, राधा का रुठना।''[129]

राजनीति के साथ-साथ समाज की नैतिकता पतनोन्मुख हो रही है। राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार, धोखाधड़ी, कोरे आश्वासन, मूल्यहीनता जैसी भयावह स्थितियों और समस्याओं पर 'इन्द्र' जी ने अपने इन नवगीतों में कटाक्ष किये हैं-

''कोरे आश्वासन की जिल्दों में
सजे हुए सब नकली अन्दाजे
बाहर से हर साँकल खुली है
भीतर है बन्द सभी दरवाजे
सौदा कर बैठे हम माटी का
मोती वाले सोने की नथ से।''[130]

इस संग्रह में देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' जी के दार्शनिक दृष्टिकोण से लिखे नवगीत भी हैं जिनमें समय और नियति के सम्मुख मनुष्य की विवशता को दर्शाया गया है। जिसे आप दृष्टिपात कर सकते हैं-

''किये उद्धत भाल नीचे
सभी बैठे आँख मींचे
इस सभा में
चीर है हम द्रौपदी के
जिसे खींचा जा रहा है।''[131]

इन्द्र जी के नवगीतों में मानवीय संवेदना, करुणा, उदासी दर्द भरी शिकन को सफलता से चित्रित किया गया है-

''विजनता की कोख से
उगती उदासी की तरह
गूँजती सूने सिवानों पर
कँटीली सनसनी।
एक शापित प्यास ने इस झील को पथरा दिया
अब न इसकी पसलियों में धड़कते कंचन कमल

पारदर्शी मोतियों की हर चटकती लहर पर

काँपता है काँच का उजड़ा हुआ भुतहा महल।''[132]

इन्द्र जी अपने नवगीतों में जीवन के भागदौड़ से जूझते रहे इन्सानों का चित्रण करते हैं। लगता है किसी-न-किसी तरह जूझते इन्सानों से इनका गहरा नाता रहा है। भाग-दौड़ में जीवन बीतने के बाद भी मानव लक्ष्य की प्राप्ति से वंचित रहे जाता है- प्रस्तुत है कवि की वाणी-

''भाग दौड़ में सारा

जीवन यह बीता

बिंधा नहीं लक्ष्य

भरा तरकश भी रीता

चौकड़ी रही भरती मृग-सी धलनाएँ

यह खण्डित रत्नमुकुट किसको पहनायें।''[133]

राजनैतिक चाल-ढाल की पहचान किसी से अनछिपी नहीं है, किसी से अजनबी नहीं है, फिर भी उसे अपना समझ तन-मन-धन से सब कुछ अर्पण करते हुए सर्वहारा का आर्त्त-नाद, राजनीति के कूट और कुटिल शोर में गुल हो ही जाता है इसी खोखली राजनीति पर कवि कटाक्ष वाणी-

''भूख से चटकता हो भले हाड़-हाड़

बच्चों को दे देंगे चावल का माड़

स्वागत है नागदेव।

दूध पीजिये

सुविधा हो आपको

तभी हमें डँसे।

सुनिये मत कुछ भी, अपनी ही कहिये

सिंहासन पर राजन्। बैठे रहिये

आप मत अपरिचय का

ढोंग कीजिए

आश्रय में आये पर

यों नहीं हँसे।''[134]

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि अपनी पत्नी की जुदाई के गम को भुला नहीं पाते हैं उनकी मौजूदगी का एहसास उन्हें हर पल यादों को तरो-ताजा कर जाता है। चूड़ी की खनक कवि के कर्ण-पटल पर अभी भी गूंजती है-

''रात की कलाई में चूड़ी-सी
खनक रहा निंदियाता चन्द्रमा
मुँदरी के दर्पन में काँप उठी
लजवन्ती पलकों की परिक्रमा
साकल पर कस्तूरी दस्तक देता
महक उठा कर्पूरी-यादों का तन।''[135]

वर्तमान को संदेश देते हुए इन्द्र जी की निम्नलिखित यथार्थ परक पंक्तियाँ इस अर्थहीन कोलाहल के माहौल को एक सार्थक लयात्मकता की गूँज से भर देती है-और तब मन को लगने लगता है कि गीत के जिस शलाका पुरुष की हमें सख्त जरूरत है-

''यक्ष, गन्धर्व, किन्नर बहुत से मिले
गीत को चाहिए अब शलाका-पुरुष
लोग आते रहे
मंच पर
सिंह करते गर्जना
प्यास के होंठ पथरा गये
शून्य में
कान पीते रहे
कण्ठ की सर्जना।''[136]

निम्नलिखित पंक्तियाँ देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' की नवगीतों में संवेदनापूर्ण भाव इनकी पुत्री नीहारिका के लिए समर्पित हैं। कवि की पुत्री नीहारिका को ईश्वर की ओर से अल्प-बुद्धि अथवा अविकसित मस्तिष्क ही मिल पाया है। विधाता के असंतुलन को पिता ने अपने स्नेह के प्रसंग द्वारा संतुलित करने का प्रयास किया है-

''अपनी यह कविता है गूँगी नीहारिका
मुखरा सीमंतिनी नहीं
चमकी कब बनकर यह संध्याकी तारिका
नापी इसने जमीन ही

कल शायद इसमें उग आएँ
खुरदरी शिलाओं के सीपिया कमल
या अभी पथरीले शब्दों पर
अर्थों के अमृत कलश
फोड़ रहे हैं।''[137]

'इन्द्र' जी ने नवगीतों में वर्तमान समस्याओं पर तथा राजनीतिक, सामाजिक, एवं चारित्रिक विसंगतियों को अपनी संवेदनशील दृष्टि से, कुशलता से उभारा है, इन नवगीतों में जीवन का उज्जवल पक्ष भी है और उलझी हुयी समस्याओं का निदान भी। कवि के शब्दों में-

''रह-रहकर गरज रहा जो यह बादल
सूखा है यह, इसके पास नहीं जल
सागर, सरिता, झीलों, तालों में
कहाँ-कहाँ फैलाया इस ने आँचल
यह तो है वंशधर धुएँ का
आत्मज है विषभरे कुएँ का
यह तो तेरी आँखों में पानी है
प्यासा होकर भी यह अभिमानी है
जीवन भर कैद रहा सीपी में
फिर भी मोती बनने को ठानी है
व्यर्थ नहीं जायेंगे पूजा के क्षण
पर्वत के मस्तक पर होगा रजकण
शंखध्वनि कानों में गूँज रही है
होगा फिर निश्चय ही देवासुर-रण
कल होगा समुन्द्र मन्थन
अमृत और गरल का विभाजन
तू ही मुकुलित होगी पद्मनाभिका।''[138]

'रामायण' हर हिन्दुस्तानी भाई के दिल की किताब है। हम अपने गुण-दोष, अच्छाई-बुराई, सुख-दुःख आदि को खोजना चाहें तो वह हमें दर्पण के माफिक बता देगा, क्यों कि दर्पण झूठ नहीं बोलता। 'रामायण' असत्य पर सत्य की विजय, अधर्म पर

धर्म की विजय, या प्रतिष्ठा है। किन्तु दुःख की बात यह है कि इतना सब होता हुए भी जानकी आज भी निर्वासित है। इसे आश्रय देने के लिए कवि-मन आज भी संवेदन-शील है-

''जब हुआ अयोध्या में
राज्यारोहण
निर्वासित हुई जानकी
आसूँ में हमने रोपी
'रामायण'
कलगी ज्यों हरे धान की।''[139]

इन्द्र जी समाज में एक क्रांति चाहते हैं। स्पष्टतः न वे राजनेता है न समाज सुधारक। वे भविष्य के प्रति आश्वस्त है, तभी तो कहते हैं-

''बाँचेगी कल जिसको पीढ़ी लवकुश की।''[140]

तत्कालीन सत्य और यथार्थ का विरोध करते हुए 'इन्द्र' जी ने लिखा है- ''जब गीत यथार्थ और जीवन्त होने के नाम पर इस सामूहिक सत्य को अपना प्रतिपाद्य बनाता है, तो एक दैनिक अखबार से अधिक उपयोगी नहीं होता। यही कारण है इन्द्र जी अद्यतन वास्तविक के संवाहक होकर भी वैदिक, रामायण और महाभारत कालीन उपमानों, प्रतीकों और बिम्बों का चयन करने में संकोच नहीं करते।

देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' के नवगीत में युग की त्रासदी, सामाजिक जीवन की विद्रूपता, जीवन की विडम्बना, मानवीय मूल्यों का विघटन, आत्मवंचना तथा छूटे संदर्भों की स्मृति आदि विषयों की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। तभी तो 'इन्द्र' जी निर्वासन, निष्कासन, पाँच गावों को मांगने के प्रसंग को प्रदर्शित करते हैं-

''रख लो, यह राज-पाट
सिंहासन, ठाठ-बाट
हमने तो पाँच गाँव माँगे हैं।
पूरा हो गया आत्म-निर्वासन
लपटों में फूलों का निष्कासन
झाड़ों में अटके रिस्तों के पटके
सुलझा लो, उलझे जो धागे हैं।
वर्षों तक हमने जो दुःख भोगे

क्या उनकी चर्चा में सुख लोगे
रात का अंधेरा तो पी आये हम
पर्वत-से लम्बे दिन आगे हैं।''[141]

'इन्द्र' जी शिल्पगत नवता के बावजूद पौराणिक-परम्परा से जुड़े हैं। इनके नवगीतों में युग-चेतना, संस्कृति की गरिमामयी संकल्पना का चित्रण मिलता है। पौराणिक संदर्भों के माध्यम से आज की छली, कपटी, त्रासदी, मुखौटाधारी व्यवस्था, अनैतिकता, मूल्यहीनता आदि को धिक्कारा गया है-

''तू भी क्या खूब रहा मन
चट्टानों पर चुनता दूब रहा मन।।
छिछली स्वीकृतियों के साँचे
तू ने हर बार तोड़कर
खड़े किये
रोज नये ढाँचे
जब भी भावुक मयुर नाचे
पिछले वे 'मेघदूत' छोड़कर
'शाकुन्तल' के
हिरण कुलाँचे
रचना रघुवंश नया होगा
अब कुमार-संभव से ऊब रहा मन।''[142]

इन्द्र जी बिम्बों एवं प्रतीकों के साथ व्यक्तिमूलक संवेदना के धनी कवि हैं। मानव-मन की गहराइयों को, सामाजिक पीड़ा की अन्तरंग अनुभूतियों और संबंधों की सहज प्रेमानुभूति को कलात्मकता के साथ व्यक्त करते हैं-

''मधुमती तू गा।
हिमकिरीटी वेणुवन में
गीतपुष्प खिला
स्वप्न पलकों में सजाकर चाँदनी के
मौन है नीलांजना घाटी
पूछ मत
यह रात लम्बी

प्रतिक्षा ने किस तरह काटी
पँखुरियों पर आँक किरणों के कथानक
ज्योति की भाषा
मधुमती तू गा।''[143]

आज का व्यक्ति जितना व्यावसायिक है, वह समाज की दृष्टि से उतना ही उच्चस्तरीय माना जाता है जो जितना प्रबुद्ध है, उतना ही उसका पथ विरुद्ध है। जब भी मानव-मस्तिष्क एवं मन पर प्रतिक्रिया की सुई गड़ी होती है तो स्वतः ही वृक्षों के फलदान के सुगंधित कोमल स्पर्श ने मानव की सहज वृत्तियों को प्रभावित किया है। कवि का मन सोचने को विवश हो उठता है-

''हाटों में जो नहीं बिकेगा।
घाटों पर सिर्फ वह टिकेगा।।
बाकी सब धार में बहेगा
झूठे इतिहास के सहारे
भावी तक कौन बच रहेगा
जो भी गुलदान में सजा है
कुड़े के ढेर पर फिंकेगा।''

देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' अपने इन नवगीतों में खोखली राजनीति के षड्यंत्र को उजागर करते हुए दिल्ली के नेता और काशी के पण्डों पर कुठाराघात करते हैं। 'मुँह में राम-राम बगल में छुरी'-सम्बन्धी उक्ति इनके चरित्र पर चरितार्थ होती है। ढोंगी नेताओं पर व्यंग्य करता हुआ कवि-मन कह उठता है-

''दिल्ली के नेता जी
काशी के पण्डे।
इनके अपने-अपने टोपी औ' झण्डे।।
हाथों में लेकर ये फटे हुए छाते
धूप और बारिश में हमको बहलाते
मन में इनकी कटुता, मधु भीगी वाणी
इन सबने सीखे
ठगने के हथकण्डे।''[144]

कवि-मन अपनी प्रेमिका की तलाश के लिए दर-दर भटका। इसी लौकिक प्रेम और मांसल सौन्दर्य को 'इन्द्र' जी अपने नवगीतों में व्यक्त करते हैं-

''बहुत-बहुत भटका मन सपनों की
आषाढ़ी धन-कुन्तल छाँह में
नेह परस पाते ही फिसला हौं
बँधे पाशयाश कब किस की बाँह में।''[145]

देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' अपने नवगीतों में प्रकृति की अनुकृति के माध्यम से हमें बहुत कुछ सामाजिक यथार्थ का भाव प्रकृतिस्थ प्रमाणित कर देते हैं। गीत-विधा ने विभिन्न युग देखे हैं। उसका अलग-अलग रंग रहा है। किन्तु बदलती युगीन स्थितियों को गीत ने गाया है। अपने परिवेश से कवि सदा प्रभावित रहता है। सामाजिक मूल्यों का क्षरण निम्नलिखित नवगीतों में साफ दिखाई देती है-

''साथ-साथ बजते हैं
दोनों इस गीत में
शोर और सन्नाटा।
आधा गीत गोरा है, आधा है साँवला
आधा है संवेदन, आधा भर है कला
पंख लगाकर उड़ता
चुभता बन काँटा।
नदियों के आँचर का फूल यही गूँगा
परबत की मुँदरी में जड़ा हुआ मूँगा
पीठ पर धुँधले की
किरणो का साँटा
धरती से अम्बर तक फैली जो दूरी
रचदी इसने उस पर लय की कस्तूरी
घाटी से शिखरों को
कब इसने बाँटा ?''[146]

हर चीज की एक सीमा होती है, भूमिका होती है, लेकिन आज हमारी कोई भूमिका नहीं रही और आज हम दूसरों को समझा रहे हैं जो आपस में ही लड़-मर रहे हैं। हमारा अपना कोई पक्ष-विपक्ष नहीं है। हममें सिर्फ नपुंसक-आक्रोश है और इसमें भी

हम द्विधा रुपी हैं-एक अपने लिए और दूसरा दुनिया को दिखाने के लिए। एक क्षण हम अपने को सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर कर्ण, कभी हम अभिमन्यु तो कभी जयद्रथ, ऐसे दोहरे मुखौटे का चित्रण करते हुए कवि कहता है-

''कभी बने कर्ण हमीं
और कभी पार्थ
स्वार्थों का समर लड़ा
कहकर पुरुषार्थ
पंकमग्न पहियों के
रथ हमने तोड़े
नंग-पैरों पथ पर चलने के दिन आये
हम ही अभिमन्यु बने
और हमीं जयद्रथ
अब खुद को खुद से ही छलने के दिन आये।''[147]

हम सदियों से शांति का पाठ पढ़ते आ रहे हैं, नम्रता दया प्रेम और उदारता को उच्चता दे रहे हैं, 'अहिंसा परमो धर्मः' के अनुयायी हैं, बुद्ध, भवभूति, भास, गांधी के वंशद हैं, किन्तु आज की विचित्रता को देखकर कवि को कहना पड़ता है-

''हमने कब चाहा था
ठने महा-भारत
हमने कब गढ़ी यहाँ
लाख की इमारत।''[148]

'इन्द्र' जी अपने नवगीतों में आदिम युग से लेकर वर्तमान युग तक की कुछ परम्पराएँ और इतिहास को बार-बार दोहराते हैं। आज भी प्रतिभाशाली और प्रबुद्ध व्यक्ति अपनी मानसिक क्षमताओं के बावजूद अपने प्राप्य से वंचित रह जाता है-

''आचार्यों की अन्धी श्रद्धा की
वेदी पर हम कटे अंगूठे हैं।''[149]

महाभारत युग में जिस प्रकार सभी आचार संहिताएँ एक-साथ झनझनाकर टूटी थीं क्या वर्तमान में हम उस झनझनाहट को नहीं सुन पा रहे हैं ? क्या आन्तरिककलह आज जाति, भाषा, वर्ण और प्रादेशिक-विभेद के रुप में दृष्टिगत नहीं होता ? एक मात्र उत्तर यही होगा कि अब भी सब घटित होता है - भाई-भाई में कलह आज भी देखे जाते हैं-

"अब भाई-भाई में
ठन रहा महाभारत
सत्य जहाँ मूर्च्छित है
कर्म जहाँ मर्माहत
झंझा में अस्त-व्यस्त-से
नौका के पाल हो गये।"[150]

कवि अपने इन नवगीतों में अतीत की व्यतीत अनुभूतियों को इस कदर प्रस्तुत किया है कि मानव-मन के अतल गहराई को स्पर्श कर प्रत्येक व्यक्ति का मन-मस्तिष्क बीते हुई अर्द्धशती में विचरण करने के लिए बाध्य हो जाता है। तभी गाँव की गोबर-माटी, लिपा-पुता घर, छप्पर, बड़की बूआ, झाँझ, मँजीरे, ढोलक, दादी माँ का चरखा, फूलों की डाली, यमुना की रेती, पके हुए खरबूजे की याद आज भी कवि को हर पल आती है। इसी दृश्य में कवि का बचपन छुपा है। कवि के ही शब्दों में-

"गोबर-माटी से वह लिपा-पुता कच्चा घर
दीवारों का बूढ़ा तन ढ़के हुए छप्पर
वह बड़की बूआ के ब्याह पर बनी बाखर
अगवारे का बरगद, पिछवारे का पीपर
दो नीले मोर-पंख ड्योढ़ी से लगे हुए
झाँज, मँजीरे, ढोलक खूँटी पर टँगे हुए
आँगन में रोपा वह बिरवा तुलसी जी का
पूजा की थाली में जलता दीवा घी का
दादी माँ का चरखा, पग-छड़ी दादा की
फूलों की डाली पर मँडराती तितलियाँ
तालों के पानी में धुन रचती मछलियाँ
भुइयाँ, माता, देवल-पूजे या अनपूजे
जमुना की रेती पर पके हुए खरबूजे।"[151]

चिंतन के फलक पर इन्द्र जी के गीतों का कैनवास इतना समृद्ध, विस्तृत एवं बहुआयामी है जो गीतों के संसार को जीवन के विविध अनुभवों, उसके परस्पर विरोधी स्वरों को अपनी साहित्यिक सृजनशीलता से समृद्ध करता है। उन्हें खोटी दुनिया की खोट

सदा कचोटती रही है। इसी खोट-धारा में व्यक्ति डूबा जा रहा है। कवि की वाणी मुखरित हो उठी है-

''अपने-अपने खड़े कर रहे
सभी सुरक्षा-व्यूह
चाहे एक उपेक्षित जन हो
चाहे अन्ध-समूह
हीरे अब कोयले में अब कोई फर्क नहीं
कितने आप कुशल सौदा विज्ञापित करने में।
सोना कह कर कोई अपनी
पीतल रहा सराह
कोई तैरा, कोई डूबा
कोई लेता थाह।''[152]

'इन्द्र' जी अपने नवगीतों में व्यक्तिगत तथा समष्टिगत जीवन की विसंगतियों महाभरत के पात्रों के माध्यम से दर्शाने का प्रयास करते हैं। वे कहते हैं हम खुद ही अपने को छल रहे हैं। हम सबके अपने-अपने व्यूह है क्योंकि हमको तो महारत हासिल है। 'इन्द्र' जी कहते हैं कि यदि आप चाहें तो रोज एक महाभारत रच सकते हैं क्यों कि आप तो चक्रव्यूहों के कर्णधार है-

''हासिल है आपको महारत।
आप पाँच लोगों के वास्ते-
गढ़ सकते लाख की इमारत।।
कर्णधार आप चक्रव्यूहों के
क्या होता बहुमत से चूहों के
आप क्यों हुए आकुल
शकुनि आपके मातुल
झोले में है उनके विल्लियाँ
इन्द्रप्रस्थ में आखिर
बननी है आपकी वजारत।
आप अगर अपनी पर आये
रच सकते रोज एक

नया महाभारत।''[153]

अतीत और वर्तमान के कालातीत को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए कवि सांकेतिक सत्य का सहारा लेता है। 'दिन पाटलीपुत्र हुए' रचना मिथकीय चेतना का दस्तावेज है। आधुनिक रचनाकार किसी संकट-परिस्थिति और विसंगति आदि की प्रस्तावना रचना के धरातल पर करता है, तो वह सभ्यता के ऐतिहासिक विकासक्रम में मानवीय प्रश्नों के चक्रव्यूह से जूझता हुआ प्राचीन घटनाओं और पात्रों को नया आयाम प्रदान करता है जीवन के खण्डित रथ चक्र को कन्धे पर उठाए हुए स्थितियों रूपी महारथी के समक्ष मध्य वर्गीय व्यक्ति अपनी कुण्ठा और निराशा पर हँसने के लिए लाचार है-

''साँसों में कील-सा गड़ा
बीत गया और एक साल
पैरों में पहने थे बेड़ियाँ
घायल सिर पर बाँधें
रेशमी कपन
पर्वत पर चढ़ने के हौसले
अन्धकूप के भीतर
हो गए दफन
खण्डित रथचक्रों की डोर
कुण्ठित शर साधे हम
व्यूह में धँसे
सात महारथियों के सामने
अपनी लाचारी पर
हम स्वयं हसे।''[154]

कवि देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' ने अपने इन नवगीतों में सांस्कृतिक सत्य का सहारा लेते हुए मानवीय संवेदनाओं से साक्षात्कार कराया है। हमारा देश धर्मप्रधान कहा जाता है, परन्तु यहाँ धर्म की दुर्दशा देखकर खीझ उठती है। धर्म तो मनुष्य को सन्मार्ग के लिए प्रेरित करता है परन्तु मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए धर्म का दुरुपयोग करता है। कवि की वाणी की गूँज में यह स्पष्टतः महसूस किया जा सकता है-

''उलझे जो काल से कभी थे
काल ने उन्हें मिटा दिया है

पौत्रों ने खुद पितामहों को
शर-शैय्या पर लिटा दिया है
धर्मराज उर्वर धरती में
फिर अधर्म-बीज बो रहे हैं।
कुछ सिंदूर, कुछ टूटी चूड़ियाँ
कुछ आँसू, कुछ कातर चीखें
छिल गये दिशाओं के कन्धे
ठोते हुए काली तारीखें
सुनिये धृतराष्ट्र ! इस विजय पर
कोने में पार्थ रो रहे हैं।''[155]

संस्कृतियों के नन्दन में जब-जब सभ्यताओं के जंगल उगा करते हैं, तब-तब मानवीय मूल्यों का जैसा ह्रास और विघटन होता है वैसा सृष्टि की सहज सामान्य विकास प्रक्रिया में नहीं। इस तथ्य को एक या दो सहस्राब्दियों के इतिहास में ही नहीं प्रत्युत सुदूर प्रागैतिहासिक युगों के घटनाचक्र में भी देखना होगा। सत्य को उजागर करते हुए कवि की वाणी प्रखर हो उठी है-

''माथे पे
लेकर शहतीरे
जितने वे व्यस्त दिख रहे हैं
तथ्यों को
कुर्सी पर बैठे
झूठा इतिहास लिख रहे हैं।''[156]

विधि की विडम्बना है कि व्यक्ति जिस मंजिल-जल की एक बूंद के लिए आजीवन प्रयत्न करता है, उसी विजय की अंतिम घड़ी में वह उसी उपलब्धि से वंचित रह जाता है-

''जब-जब विजय-पर्व नियराता
कीचड़ में धंस जाता रथ का पहिया।''

कवि सृजन-धर्मिता के एक-एक बिन्दु को क्रमशः बुनता हुआ टूट-टूट कर बार-बार जुड़ता है अर्थात औरों को गढ़ने की फिक्र में वह स्वयं को मिटाता है कवि अपनी संवेदना को व्यक्त करते हुए कहता है-

"औरों को गढ़ने की फिक्र में
बार-बार खुद को ही
तोड़ा है हमने।
औरों के जयी अश्व-मेघ में
बार-बार खुद को ही
छोड़ा है हमने।"[157]

आज के आपाधापी-युग में ईमानदार नागरिक राजनीतिज्ञों के कुटिल नीति के कारण शोषण का शिकार हो रहे हैं। साम्प्रदायिकता के नाम पर निर्दोष लोगों की हत्याएँ हो रही हैं। इस सत्य को प्रकट करने के लिए इन्द्र जी की सार्थक सिद्ध होती है-

"उत्सव की चहल-पहल में हमने
बोझिल एकांत को जिया है।
यह कैसी मनन प्रक्रिया है ?
स्वर्ण मुकुट नहीं, कच्चे धागे में
लटकी है सिर पर तलवार
साँस-साँस में महकी पाँखुरियाँ
बन जाती चाकू की धार।"[158]

कवि अपनी भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति के लिए न केवल पुराख्यानोपजीवी है, बल्कि इसके साथ-साथ प्रकृति की सहजता सौन्दर्य का भी ऋणी है। प्रकृति का भाव-जगत् और रुप-स्तर, मानव-हृदय के अनुरुप है। संस्कृति की प्रत्यूषवेला से प्रकृति मानव की सहचरी रही है। नदी, समुद्र, आकाश, वृक्ष, चाँद और ऋतुएँ-समस्त प्रकृति मानव-जीवन की सुख-दुःखात्मक गाथाओं की जीवन्त परिभाषा है। धूप मानव संघर्ष का पर्याय बन गई है-

"सिन्धु से मिलने चली थी राह में विलमा गयी।
इस नगर के पास आते ही नदी पथरा गयी।।
चाँदनी की छाँह में घर से चली थी यह नदी
धूप में तप कर नदी की देह भी सँवला गयी।"[159]

इन्द्र जी इन नवगीतों में अपने सम-सामयिक परिदृश्य के यथार्थ को पत्रकार-शुलभ शैली में 'जस का तस' प्रस्तुत करने की अपेक्षा प्राचीन आख्यानों, मिथकों, अभिधानों अथवा बिम्बों को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाते हैं। पर्वतों की रम्यता

जिस प्रकार दूरिता से सहज रूप में जुड़ी होती है उसी प्रकार अपने समय के निकटतम यथार्थ को रमणीय आकार देने के लिए कवि को इतिहास के अर्द्धविस्मृत अतीत की दिशा में भी कदाचित् पश्चात्पद होना पड़ता है–

''आखिकार मृत्यु से ही समझौता होना था
कोई कब तक जी पाता ऐसे तिल–तिल खटकर ?
गुरु शाप, सारथी का छल, निष्ठुरता माँ की
लोहा लेता किस–किस से वह पंकमग्न डटकर ?
दृष्टि माँगता था उससे
धृतराष्ट्र–वंश अन्धा
पंगु मित्रता को ढोया
जिसने बनका कन्धा।''[160]

देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' की इन नवगीतों में 'रामायण' के पात्र रावण को आधार बना कर वर्तमान के मानव–जीवन के लिए समर्पित भाव को संदेश का विषय बनाया गया है। कवि का संदेश निम्नलिखित नवगीत में मुखर हो उठी है–

''अपने लिए जिया जीवन यह
औरों के लिए भी जिया होता।
बड़े भाग्य से तू ने
मानुष–तन पाया था
पिछले पुण्यों के बल
धरती पर आया था
लगा रहा तब से तू संचय में
दुनिया को भी रच दिया होता।
सागर मंथन के क्षण
जा बैठा तीर के निकट
देवों के हाथों से
छिन लिया अमृत–घट
तू तो था शंकर का अनुगामी।
एक घूट गरल का पिया होता।''[161]

उपरोक्त नवगीत का आशय है व्यक्ति को अहंकार घमण्ड को त्यागकर मानव-जीवन के हित का कार्य करना चाहिए।

कवि अपने इन नवगीतों में मानवीय-संवेदनाओं को व्यक्त करने समर्थ और सार्थक सिद्ध हुए हैं। कवि का परदेशीमन बार-बार अपने गाँव की याद को ताजा कर जाता है, जिसके महक की गन्ध, कवि को घर जाने के लिए विवश करता है। जहाँ उनकी माँ बसती थी, व्याह और विदाई में बहना के आँसू गिरे थे। कवि 'इन्द्र' जी अपने मन की दशा को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि मैंने ही स्वयं को इस नगरीय भीड़ में समाहित कर लिया है। बड़की बुआ की पाती हमारी उन यादों को ताजा कर गई है। कवि की भाषा कितनी जीवट है-

''गन्ध उठी चावल के माँड़ की
फिर-फिर घर जाने को
परदेशी मन हुआ।
आँखों में झाँक गयी
बूढ़ी माँः बनखण्डी
पाँवों में आ लिपटी
बिटिया से पगडण्डी
कोइलिया कूक उठी
जलती अमराई में
बहना जैसी रोयी
व्याह पर विदाई में
आग से लगे सावन ने
झुलसाया चीड़ों को
हमने खुद को सौपा
शहरों की भीड़ों में।''[162]

प्रस्तुत नवगीत में कवि देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' कृष्ण के उपदेशों को गीता के सार के रुप में व्यक्त करते हुए कहते हैं श्री कृष्ण दुनिया को संदेश देते हैं-मैं कुछ भी नहीं, न आर्या, न गाथा, न सारांश, न संस्कृति, न प्राकृत, न किसी नाटक का पात्र, न किसी गाथा का अधूरा अंश। जब-जब संसार में अधर्म हुआ है, मैंने ही सुदर्शन चक्र लेकर उसे

नाश किया है। मैं आदि भी हूँ अनन्त भी, सभी मुझसे उत्पन्न होते हैं, मेरे में ही समाहित हो जाते हैं। कवि के शब्दों में-

"हम न आर्या, हम न गाथा
हम न सारांश हैं।
हम न संस्कृत, हम न प्राकृत, हम न महज अपभ्रंश है।
हम न नाशक के महोत्सव,
हम नहीं अधिकृत कथानक के अधूरे अंश हैं।
जब-जब युद्ध छिड़े हैं,
तब हमीं, ले हाथ में रथचक्र खण्डित,
चक्रव्यूहों से भिड़े हैं,
हमीं ने हर साँस में झेले मरण के दंश हैं।
अस्ति कश्चित वाक्' के हम संस्मरण हैं।"[163]

इन्द्र जी के पास अति समृद्ध बिम्ब-निर्माण क्षमता एवं एक विशाल अनुभव संपदा है। वह लफ्जों की रुहों में उतर अंतस के संसार की गहन पीड़ा से रची-बुनी इस दुनिया को स्नेह से भीगी आत्मीयता का एहसास भी कराते हैं। घर परिवारों के टूटते संवादों को चिंता का विकल कारण भी बताते हैं। निरन्तर चलने वाले इस भीतरी युद्ध के मुक्ति-प्रसंग की गाथा भी सुनाते हैं। कवि ने केवल इतिहास ही नहीं दुहराया है बल्कि समकालीन-सामाजिक स्थितियों को ऐतिहासिक बिम्बों से पौराणिक आख्यानों से, आरण्यक-शिल्पों से लोक-संस्कृति से जोड़कर नवगीत का नया समीकरण सिद्ध किया है।

देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' के इन नवगीत संग्रह में युग की त्रासदी, सामाजिक जीवन की विद्रूपता, मानवीय मूल्यों का विघटन आत्म-वंचना छूटे संदर्भों की स्मृति आदि विषयों की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। परन्तु इनके काव्यों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है युग की तमाम विसंगतियों को पौराणिक संदर्भ के माध्यम से व्यक्त करना।

किन साहित्यकारों से प्रभावित ?

'इन्द्र' जी साहित्यानुरागी स्वभाव के व्यक्ति रहे हैं। फलतः संस्कृत, पालि, प्राकृत और अंग्रेजी के माध्यम से यूरोपीय-साहित्य विशेषकर काव्य का गंभीर और व्यापक अध्ययन करने की तीव्र लालसा इनमें चिरकाल से विद्यमान रही है। लगभग आधी

शताब्दी से ये अध्ययन/अध्यापन से भी सम्पृक्त रहे हैं। अतः इन्हें हर श्रेष्ठ कवि ने किसी न किसी रुप में प्रेरित और प्रभावित भी किया है। 'इन्द्र' जी कहना चाहते हैं कि 'प्रभावित होना' और 'अनुकरण कर्ता' होना दो सर्वथा भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हैं। कालिदास, माघ, भास, भवभूति या जयदेव से प्रभावित होने का यह अर्थ नहीं कि ये सभी संस्कृत में काव्य-रचना करें। यदि इन्हें वर्ड्स्वर्थ, शेली, कीट्स, मिल्टन या ऑडन, हिट-मेन, डॉयलन टॉमस टी.एस. इलियट, एनरा पाउण्ड के काव्य ने प्रभावित किया है तो सूर, तुलसी, बिहारी, मतिराम, पद्माकर के साथ-साथ प्रसाद निराला पंत, रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा शंकर कुरुप ने भी इनकी काव्य-चेतना के निर्माण में गहरी भूमिका अदा की है। हिन्दी और उर्दू को ये लिपिभेद के फलस्वरुप दो भाषाएँ नहीं मानते। इनके लिए वे अभिव्यक्ति की दो शैलियाँ हैं।

जब 'इन्द्र' जी आठ-नव वर्ष के थे तभी ये अपने गाँव को छोड़कर पिता जी के साथ ही आगरा चले आये थे। पिता जी अध्यापक थे और ये लोग उसी विद्यालय में रहते भी थे, जिसमें ये और इनके पिता जी पढ़ाते थे। अतः पुस्तकों का पठन-पाठन और अध्यापकों के प्रति इनका बचपन से ही लगाव हो गया था। परिवार साहित्यिक संस्कारों का था। अतएव शैशव से ही इनकी यह इच्छा बलवती हो गयी थी कि मैं भी एक साहित्यकार लेखक, प्रध्यापक बनूंगा। इनके अध्ययन की दिशायें भी उसी इच्छा के अनुरुप नये-नये आयाम प्राप्त करती चली गयी। हाई-स्कूल की परीक्षा के साथ-साथ हिन्दी-साहित्य सम्मेलन की मध्यमा भी तभी उत्तीर्ण कर ली थी। लगभग सभी नये-पुराने कवियों की अधिकांश पुस्तकों का अध्ययन भी कर लिया था। अतः आगे की चूडान्त-पढ़ाई में किसी प्रकार की बाधा और व्यवधान की अनुभूति नहीं हुई। देवपुरस्कार विजेता कवि सम्राट स्व. पं. हरिशंकर शर्मा, बाबू गुलाब राय एम.ए.पं. हृषीकेष चतुर्वेदी का सानिध्य लाभ इन्होंने अपने केशोर्य में ही कर लिया था। आगे चलकर डॉ. पद्म-सिंह शर्मा 'कमलेश', डॉ. विश्वंभरनाथ उपाध्याय, डॉ. रामगोपाल सिंह चौहान, डॉ. रामविलास शर्मा और डॉ. रांगेय राघव आदि अनेक नये-पुराने साहित्यकारों के साथ अनेकानेक भावनात्मक संबंधों की प्रगाढ़ता आती गयी। बी.ए. की पढ़ाई के दौरान इनका अधिकांश समय पाठ्यक्रमेतर अध्ययन और लेखन में ही बीता। आगरा जनपद और बाहर के साहियिक परिवेश में अपनी स्वतंत्र पहचान बनाने के लिए वे स्वयं को ही काव्य-देवता के चरणों में समर्पित कर दिया। हिन्दी-जगत की अनेकानेक पत्र-पत्रिकाओं में तब इनकी कविताएँ और गीत सम्मान पूर्वक प्रकाशित होने लगे थे। सन्

1956 में जब एम.ए. करके आगरा कॉलेज के हिन्दी विभाग मे नियुक्त हुए तब इनके साहित्यिक-संसार की परिधियाँ और अधिक व्याप्त हुईं।

सन् 1966 तक आगरा विश्व-विद्यालय के अन्तर्गत मथुरा, आगरा, सहारनपुर हाथरस और पुनः आगरा के महाविद्यालयों में एक लोकप्रिय अध्यापक और सफल समीक्षक बनने की प्रक्रिया में इन्हें अकादमिक लेखन अपेक्षाकृत अधिक करना पड़ा। उस दशक में बिहारी, प्रसाद, हरिऔंध, पंत जी, निराला जी और लक्ष्मी नारायण मिश्र के साहित्य पर इनकी आधा दर्जन समीक्षात्मक कृतियों का प्रकाशन हुआ। कालक्रमानुसार जब दिल्ली विश्व-विद्यालय (श्यामलाल कॉलेज शाहदरा) के हिन्दी-विभाग से संबद्ध हुए, तो अकादमिक लेखन को अंतिम प्रणाम करते हुए पूरी तरह कविकर्मरत जीवन जीने के लिए प्रतिश्रुत हुए।

सन् 1956 से 1966 तक का समय इनके साहित्यकार के लिए एक विचित्र ऊहापोह की अवधि रही है। मूलतः गीतकार होने पर भी इस बीच नई कविता के आन्दोलन ने इन्हें भी अपनी ओर आकृष्ट किया और ये भी उसी तर्ज की कवितायें लिखने लगे। क्योंकि तब गीतकार होना पिछड़ेपन का लक्षण माना जाता था। दिल्ली जैसे महानगर में तब नयी कविता की धूम थी। कनाटप्लेस के ही हाउस और कॉफी हाउस की भीड़ में तब हर दूसरा व्यक्ति कोई-न-कोई नया कवि हुआ करता था। श्री कांत वर्मा, कैलाश वाजपेयी, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर, गिरीजा कुमार माथुर, भवानी प्रसाद मिश्र और प्रभाकर माचवे आदि उन दिनों नयी कविता के नियामक हुआ करते थे। नयी कविता की आंधी में उस समय पंत जी, दिनकर जी, शंभुनाथ सिंह आदि भी बह गए और छन्दहीन गद्य कविता की ओर झुक गए, किन्तु शीघ्र ही 'अज्ञेय' द्वारा प्रवर्तित यह नयी कविता का भूत उतरने लगा और गीतात्मक कविता के हलकों में एक नयी सुगबुगाहट पैदा होने लगी। जिसे आगे चलकर 'नयी कविता', नयी कहानी और नयी समीक्षा के वजन पर नवगीत के नाम से जाना जाने लगा। ये नवगीतकार नयी कविता और कवि-सम्मेलन धर्मी मंचीय कविता की अतिबौद्धिकता तथा लिजलिजी भावुकता के विरोध में आगे आये। देश भर में तब भी अनेक व्यक्ति छन्दोबद्ध शैली में गीत-रचना कर रहे थे और जिनका सोच भी समकालीन तथा आधुनिक था। 'कविता' 64 'पाँच-जोड़ी बाँसुरी' तीन खण्डों में प्रकाशित 'नवगीत दशक' 'यात्रा में साथ-साथ' और 'नवगीत अर्द्धशती' आदि नवगीत के समवेत-संकलन उत्तरोत्तर प्रकाशन में आये। वीरेन्द्र मिश्र तो प्रारंभ से अन्त तक गीतकार थे ही अब शम्भुनाथ सिंह, उमाकान्त मालवीय, शिव बहादुर सिंह भदौरिया

आदि भी पुनः गीत के जमीन पर सधे पैरों से खड़े हुए और नवगीत की प्रतिष्ठा के समर में प्राणपण में सक्रिय हुए।

कवि देवेन्द्र शर्मा इन्द्र कहते हैं कि इन पंक्तियों के लेखक की भूमिका भी नवगीत के प्रवर्तन में कदाचित विस्मरणीय नहीं होगी। उत्तरा परिवेश और शोधस्वर जैसी पत्रिकाओं के गीत विशेषांकों के सम्पादन के जरिये इस देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' ने भी अपना सक्रिय रोल अदा किया। 'यात्रा के साथ-साथ' नामक समवेत नवगीत संग्रह की योजना से उनकी नयी गीत प्रतिभाएँ उभरीं। 'पथरीते शोर में' से लेकर 'गंधमादन के अहेरी' के ग्यारह नवगीत संकलन अद्यावधि प्रकाशित हो चुके हैं, जो स्वयं में एक विनम्र कीर्तिमान हैं।

अस्तु, यहाँ बात प्रभाव की चल रही थी, सो इन्द्र जी पुनः सरागी विषय पर ही लौटना चाहते हैं। प्रसाद, निराला, पंत, नरेन्द्र शर्मा, आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री और अंचल जी के गीतों ने अपने कथ्य और शिल्प वैविध्य के द्वारा 'इन्द्र' जी को प्रारंभ में ही प्रभावित किया था। बाद में इन्हें चलने के लिए स्वयं ही अपना मार्गानुसंधान करना पड़ा और एक सीमा तक अपनी रचनाओं के द्वारा दर्जनों नवगीतकारों को भी प्रेरित और प्रभावित किया। यह एक वास्तविक तथ्य है। किसी प्रकार का आत्म-प्रशासन नहीं है। इतना ही नहीं कभी-कभी ये अपने परवर्ती रचनाकारों के प्रदेय से भी प्रभावित होते रहते हैं। प्रभावित होना और प्रभावित करना दोनों ही साहित्य में आदान-प्रदान के रुप में सहज स्वीकार्य रहे हैं। पाषाण खण्ड और शिलाएँ ही एक दूसरे से अप्रभावित रह सकती हैं, संवेदनशील रचनाकार का मन नहीं।

रचना प्रक्रिया

जैसे कोई जीवित और स्वस्थ व्यक्ति प्रतिक्षण स्वाभाविक रुप से साँसे लेता है, जैसे नब्ज में धड़कन होती है, अथवा हृदय में स्पंदन होता है, वैसे ही रचनाकार की रचनाशील चेतना में क्षण-क्षण कुछ न कुछ रचनात्मक घटित होता रहता है। वह अपने चतुर्दिक वृत्त में कुछ भी घटित होते देखता है उसे आत्मसात् करता रहता है और जो उसके राग-विरागात्मक संवेदन होते हैं, उनके अनुरुप उन घटनाओं का स्वीकार-परिहार भी करता है। प्रकारान्तर से वह 'रचना-प्रक्रिया का कच्चा माल' होता है, जिसे वह शब्द, छन्द, लय, राग, प्रतीक, बिम्ब, अभिव्यक्ति के विविध उपकरणों की सहायता से पहले अमूर्त रुप में आकार देता और तत्पश्चात कागज पर उतारता है। अन्तर्बाह्य जगत्

की यह क्रिया-प्रतिक्रिया कभी परोक्ष और कभी प्रत्यक्ष रीति से व्यक्त होती है। कुछ लोग तो अपने परिवेश में घटित होने वाले छोटे-बड़े व्यापार को तत्काल शब्दों का जामा पहनाकर के 'रनिंग कमेण्टेटर' की तरह या पत्रकार की भाँति अपनी रचना प्रस्तुत कर देते हैं, कुछ ऐसे होते हैं जो उस घटनात्मक सत्य को अपनी अनुभूति, संवेदना और रागात्मकता के साथ तदाकार और तद्रूप बनने में लम्बी अवधी तक प्रतीक्षा करते हैं। जैसे माता अपने गर्भ में अजात और अनुत्पन्न शिशु को पालती रहती है और समय पर ही उसे जन्म देती है। उसी प्रकार पहले का घटनात्मक सत्य कालान्तर में जाकर एक 'कविता' के आकार में व्यक्त होता है। यह आवश्यक नहीं कि रचनाकार जैसा चाहता है, रचना उसी रुप में जन्म ले, उसका रुपान्तरण भी हो सकता है, कभी-कभी चन्द्रमा का अंकन करते-करते वह 'राहु' अथवा 'केतु' को भी रेखांकित या शब्दांकित कर बैठता है। कभी-कभी वह रचना (कलाकृति) असाधारण रुप से इतनी स्वतः सम्पूर्ण, सुन्दर और प्रभावशालिनी बन जाती है कि उसका स्रष्टा ही उस पर विमुग्ध-विस्मित होने लगता है। रचनाकार अथवा सर्जक की मनोचेतना में शायद इसीलिए थोड़ा बहुत 'आत्म-सम्मोहन' का भाव विद्यमान रहता है। ऐसी कौन-सी माँ होगी जिसे अपने आत्मज शिशु पर गर्व अथवा प्रसाद-पुलक न होता हो ?

रचनाकार से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अंतिम समय तक अपनी रचना को सर्वगुण सम्पन्न और सर्व-दोषविवर्जित बनाने के लिए उसमें परिष्कार और परिशोध करने की दिशा में प्रयासरत रहे। 'अनायास सृष्टि' को प्रयासपूर्वक और अधिक आकर्षक बनाना कुछ अनुचित भी नहीं है। परिष्करण की भी एक सीमा होती है, जिसका अतिक्रमण करने से रचनाकार की कृति असहज, अस्वाभाविक, कृत्रिम और निर्जीव-सी हो जाती है, रीतिकाल में रचे गये शब्दों की भाँति।

यहाँ यह कहना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि अलग-अलग रचना-कृति की रचना-प्रक्रिया भी अलग ही होती है। यह सब एक जीवन व्यापिनी साधना चाहता है, असाध्य को साधने में एक रचनाकार अपना सम्पूर्ण जीवन खपा देता है।

रचना प्रक्रिया अपने आप में कोई स्वतः चालित प्रक्रिया भी नहीं होती है। उसमें मन (अनुभूति) मस्तिष्क (बोध) कल्पना व्यापार आदि सभी का समन्वित अवदान भी निहित रहता है। दर्पण जितना स्वच्छ होता है, उसमें बिम्ब भी उतना ही स्वच्छ और अनाविल रुप से भासित होता है। इसी प्रकार एक कवि या रचनाकार का मानस भी सतत स्पंदनशील, संवेदनशील और सत्य-शिव सापेक्ष सौंदर्य विधायी होना चाहिए। कुछ

रचनाकार तभी प्रक्रियाशील होते हैं, जब उनके सामने राइटिंग टेबल पर सफेद चिकने कागज और सुनहरे फाउंटेन पेन के साथ कॉफी का प्याला रखा हो। कुछ कवि सम्मेलनी कवि ट्रेन या हवाई जहाज में यात्रा करते समय ही रचना कर पाते हैं, तो कुछ महिला रचनाकार 'किचिन' में काम करते हुए ही कविताएँ लिख डालती हैं। एक प्राध्यापक रचनाकार तो परीक्षाभवन में निरीक्षण कार्य करते हुए अपनी अधिकांश रचनाएँ लिख डालते हैं। सच्चाई तो यह है कि ये सब फिजूल की बातें हैं, जिनका रचना प्रक्रिया से कुछ लेना-देना नहीं होता।

कवि गोष्ठियों, रेडियो, दूरदर्शन, पत्र-पत्रिकायें

प्रारम्भ में यदा-कदा कवि-सम्मेलनों में भी पाठ किया करते थे परन्तु 1954 के बाद से भाग लेना बन्द कर दिये। भाग न लेने के कई कारणों में मुख्य निम्नलिखित थे-

क कवि-सम्मेलन मंच से धीरे स्तरहीन रचनाओं को प्रोत्साहन

ख मंचीय कवियों की अर्थ परायण प्रवृत्ति

ग विश्व-विद्यालय स्तर पर प्रध्यापन करने का उदात्त लक्ष्य

जहाँ तक कवि गोष्ठियों का प्रश्न है, उनमें भाग लेने से कभी कोई आपत्ति नहीं रही। गोष्ठियों में प्रायः श्रोता वर्ग साहित्यिक और काव्यात्मक संस्कार सम्पन्न रसज्ञ और गुणज्ञ होता है। गोष्ठियों में सामान्य कवि अथवा विशिष्ट कवि के रूप में भाग लेने के अतिरिक्त अनेक वार संयोजन/संचालन और अध्यक्ष पद का निर्वहण भी किया।

इन्होंने सन् 1966 से अब-तक आकाशवाणी पर काव्य पाठ किया है। दूरदर्शन पर भी गए हैं। परन्तु इन दिनों प्रचार माध्यमों से उदासीन हो चुके हैं। क्योंकि अब रचनाकार की वरिष्ठता की उपेक्षा की जाती है तथा सम्पर्क-साधक-चाटुकारों को ही बारंबार अवसर दिया जाता है।

सन् 1980 से अब तक देश की हिन्दी में छपने वाली सभी प्रमुख साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में अविकल रुप से स सम्मान प्रकाशन होता रहा है।

कुछ उल्लेखनीय पत्र-पत्रिकाएँ जिसमें रचनाओं का प्रकाशन हुआ।

1) विशाल भारत

2) सरस्वती

3) नागरी पत्रिका

4) अजन्ता

5) कल्पना
6) कल्पना–इलाहाबाद
7) साहित्यकार
8) नई धारा
9) अवन्तिका
10) धर्मयुग
11) साप्ताहिक हिन्दुस्तान
12) प्रतिभा
13) सनीचर
14) कोपल
15) सान्ध्यमित्रा
16) समान्तर
17) सार्थक
18) संयोग–साहित्य
19) ज्ञानोदय
20) वागर्थ
21) शोधस्वर
22) परिवेश
23) अनन्या
24) अन्तराल
25) सन्मार्ग
26) काव्य–कलश
27) अक्षरा
28) ऋतु चक्र
29) डाक–तार
30) बचत
31) श्री राजा
32) आर्य कल्प
33) युवक

34) समयान्तर
35) नई दुनिया
36) भास्कर
37) सैनिक
38) संदेश
39) नव भारत टाइम्स
40) हिन्दुस्तान
41) आज
42) आजकल
43) साहित्य-परिक्रमा
44) साहित-संदेश
45) नवान्न
46) गूँज
47) कादम्बिनी
48) बेला
49) हिमप्रस्थ
50) हिन्दी ट्रिब्यून
51) मासिकागद
52) अक्षत
53) उत्तर
54) उत्तरायण
55) उत्तरा
56) जीवन प्रभात
57) मधुमती
58) कालबोध
59) राजस्थान-पत्रिका
60) निष्ठा
61) नवनाद
62) अतएव

63) साहित्य-भारती
64) उत्तर-प्रदेश
65) अवकाश
66) अंचल भारती
67) आइना
68) चर्वणा
69) बेला
70) सण्डेमेल
71) सरस्वती-संवाद
72) लय
73) सम्यक्
74) काव्यायनी
75) पूर्वोत्तर बारती
76) नए-पुराने
77) सर्व-प्रिय
78) सारंग
79) राष्ट्र-दूत
80) एकाम्बरा
81) हरित-वसुंधरा
82) कविता-इण्डिया
83) नालन्दा-दर्पण
84) समग्र
85) सुर-संकेत
86) सहकार-संचय
87) सहकार
88) नवनीत
89) नवनीत
90) श्रृंगार सन्ध्या
91) इन्दु-प्रभा

92) अक्षर-पर्व
93) राजभाषा पत्रिका
94) पालिका समाचार
95) गगनांचल
96) समकालीन भारतीय साहित्य
97) शिवम्
98) गीत नवान्तर
99) तटस्थ
100) कंचन-प्रभा
101) इण्डिया टूडे
102) भव्य भारती
103) अमर उजाला
104) द्वीप-प्रभा
105) मतवाला
106) काव्य-गंगा
107) राष्ट्रीय सहारा
108) अयन
109) जागरण
110) प्रताप-शोभा
111) प्रयास
आदि

इनकी ऐसी और भी अनेक छोटी-बड़ी पत्रिकाएँ है जिनके नाम ज्ञात नहीं हैं। जिनमें इनकी रचनाओं का प्रकाशन हुआ।

सम्पादन

1. पत्रिकायें

क जिन दिनों श्री शशिभूषण सिंहल (अवकाश प्राप्त अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, महर्षि दयानंद वि. विद्यालय रोहतक) और इन्द्र जी क्रमशः इन्टरमीडिएट और हाई स्कूल के छात्र थे, उन दिनों 'इन्द्र' जी ने 'झंकार' नामक एक हस्तलिखित पत्रिका

निकाली थे। झंकार के दो अंक ही निकले थे, जो नागरी प्रचारिणी सभा आगार के पुस्तकालय में वाचनार्थ रखे गये थे।

ख उन्हीं दिनों आगरा से एक छोटी-सी सिने-पत्रिका जिसका नाम शायद चित्रलोक था, का श्री यादवानंद व्यास के साथ सम्पादन किया थे। कुछ अंक निकलने के बाद यह पत्रिका भी बन्द हो गयी थी।

ग बाद में जब इन्द्र जी प्राध्यापन कर्म से सम्बद्ध हुए तब क्रमशः जे.वी.जैन पोस्ट गेज्युएट कॉलेज शाहदरा, दिल्ली की पत्रिकाओं का कई वर्षों तक सम्पादन किया।

घ गाजियाबाद से 'परिवेश' नामक एक साहित्यिक लघु पत्रिका प्रकाशित होती थी। जिसके एक अंक का अतिथि-सम्पादन किया था।

ड बरेली से 'शोध-स्वर' नामक पत्रिका निकलती थी, जिसके गीत-विशेषांक का डॉ. भगवान् शरण भारद्वाज और माहेश्वर तिवारी के साथ सम्पादन किया था।

च बड़ोदा से प्रकाशित 'उत्तरा' नामक पत्रिका के गीत/नवगीत विशेषांक का अतिथि रुप में संपादन किया था। 'उत्तरा' के स्थायी-सम्पादन डॉ. वंशीधर थे।

सम्पादित पुस्तकें

1) ताज की छाया में (कविता संग्रह) वर्ष 1959/साहित्यरत्न भण्डार आगरा अन्य सम्पादक श्री शिवदान सिंह चौहान, घनश्याम अस्थाना तारकनाथ वाली एवं रामगोपाल सिंह चौहान।

2) 'यात्रा में साथ-साथ' (नवगीत संग्रह) वर्ष 1984/पराग प्रकाशन विश्वासनगर शाहदरा दिल्ली 32

3)	सप्तपदी 1 (दोहा संग्रह)	1992	अयब प्रकाशन 1/20
4)	सप्तपदी 2 (")	1994	महरौली नई दिल्ली 30
5)	सप्तपदी 3 (")	1995	
6)	सप्तपदी 4 (")	1997	
7)	सप्तपदी 5 (")	1999	
8)	सप्तपदी 6 (")	2000	
9)	सप्तपदी 7 (")	प्रकाश्य	

इन्द्र जी की कविता की यात्रा लगभग पचास-साल पहले शुरु हुई थी। महेन्द्र कुमार मिश्र अपनी शीर्षक 'वापसी के मग्न सेतु' में लिखते हैं कि - 'इन्द्र' जी एम.ए.

करने के बाद वह आगरा कॉलेज में प्रवक्ता हो गए थे। दो वर्ष बाद में भी आगरा कॉलेज में ही अंग्रेजी पढ़ाने लगा था। उसी समय एक दल बना, जिसमे रामगोपाल सिंह चौहान, घनश्याम अस्थाना, सोम ठाकुर, कुन्दन उप्रेती, राजनाथ शर्मा आदि शामिल थे। तभी सभी ने मिलकर सहकारी प्रकाशन की योजना शुरु की थी, जिसका कविता संग्रह 'ताज की छाया में' 1959 में प्रकाशित हुआ था। संपादक मंडल में शिवदान सिंह चौहान, घनश्याम अस्थाना, तारकनाथ बाली और देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' भी शामिल थे। 'ताज की छाया में' के प्रकाशन के जालीस वर्ष बाद देवेन्द्र जी काव्य के शीर्ष पर पहुँच गए।

श्री देवेन्द्र शर्मा इन्द्र जी हिन्दी साहित्य और समाज के गौरव हैं। अपने विराट कृतित्व में समाज के टूटते मापदंडों, विघटित नैतिक मूल्यों और मानवीय संवेदना को पुनःप्रतिष्ठित करने का महान कार्य किया है। 'इन्द्र' जी हिन्दी-काव्य परंपरा में दोहा छन्द की समाप्त होती जा रही परंपरा को पुनः जीवित किया है। वे धीर-गंभीर भावों तथा विचारों का सागर हैं। नवगीत-विधा के आज 'इन्द्र' जी सबसे चर्चित कवि हैं। उन्होंने हिन्दी नवगीत को एक नया आयाम दिया एक नयी दिशा दी है।

'इन्द्र' जी गीत-विधा के पुरोधा और एक वरिष्ठ-साहित्य मनीषी हैं। इस मुकाम तक पहुँचने के लिए उन्होंने बड़ी लम्बी यात्रा तय की है। समय के साथ उनके लेखन में प्रौढ़ता आती गई और उनका कथ्य भी व्यापक गहन होता चला गया है और आज वे महत्वपूर्ण उल्लेखनीय गीत-शिल्पी हैं। 'इन्द्र' जी का समूचा व्यक्तित्व ही गीत को समर्पित है। इन्द्र जी कारयित्री और भावयित्री दोनों ही प्रतिभाओं के धनी हैं। सर्जना एवं समालोचना दोनों पर ही उनका अद्भुत अधिकार है। पद्य और गद्य दोनों में उन्होंने विपुल मात्रा मे लिखा है।

विषयगत व्यापकता से परिपूर्ण 'इन्द्र' जी के गीत, ग़ज़ले और दोहे समृद्ध भारतीय काव्य-परम्परा से जुड़े हैं अपने लेखकीय दायित्व को अनुभव करते हुए राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं व जीवन से जुड़ी मानसिकताओं को इन्द्र जी अपनी लेखनी के नोक पर उतारा है।

उत्तमोत्तम काव्य का जितना गहन बोध इन्द्र जी को है, उससे उनका कविता संबोध प्रबोधिनी हो उठी है। उनके बिम्ब और प्रतीक उनके नवगीतों को इस प्रकार संप्रेषण प्रदान करते हैं कि उनके लिए पाठक का सुधी होना जरुरी हो जाता है। इनके गीत प्रतीकात्मकता के कारण सिर पर से गुजर जाते हैं। वास्तव में इन्द्र जी एक दशक से

प्रतीकों के इतने भक्त हुए हैं कि उनके गीतों को बिम्बों से विरक्त कर के देखा नहीं जा सकता।

कविता को पूरी ईमानदारी और सभ्यता से जीनेवाले कवि इन्द्र जी हृदय से निर्मल व पावन, स्पष्टवादी, खेमेबंदी से दूर, एकान्त साधना के विश्वासी अपने आस-पास में सिमटे रहने वाले लेकिन सामयिक परिस्थितियों को झेलते समझते और उनका हौलसा से सामना करते हुए बेहद जागरुक रचनाकार हैं। शिल्प के स्तर पर जहाँ उनकी रचनाओं में नवीनता परिलक्षित होती है, वही भाषा के स्तर पर एक नया मुहावरा भी सशक्त रूप से बार-बार देखने को मिलता है।

अतः अंत में हम कह सकते हैं कि चिंतन के फलक 'इन्द्र' जी के गीतों का कैनवास अत्यधिक समृद्ध, विस्तृत एवं बहुआयामी है। वे अपने गीतों में अपने दौर की गंभीर एवं ईमानदार अभिव्यक्ति की ओर ले जाते हैं। इनके पास अति समृद्ध बिम्ब-निर्माण क्षमता एवं एक विशाल अनुभव संपदा है।

संदर्भ सूची

1. संस्मरण से ('इन्द्र' जी के)
2. वही वही
3. वही वही
4. देवेन्द्र शर्मा इन्द्र 'जीवन और सृजन' से
5. वही चुप्पियों की पैजनी पृ. 20/21
6. वही वही पृ. 22
7. वही वही पृ. 23
8. वही वही पृ. 24, 25
9. वही वही पृ. 26
10. वही वही पृ. 27
11. वही वही पृ. 28
12. वही वही पृ. 31
13. वही वही पृ. 33
14. वही वही पृ. 34
15. वही वही पृ. 35
16. वही वही पृ. 36
17. वही वही पृ. 40
18. वही वही पृ. 43
19. वही वही पृ. 46
20. वही वही पृ. 49
21. वही वही पृ. 51
22. वही वही पृ. 53
23. वही वही पृ. 55
24. वही वही पृ. 58
25. वही वही पृ. 59
26. वही वही पृ. 61
27. वही वही पृ. 62
28. वही वही पृ. 67

29. वही वही पृ. 68
30. वही वही पृ. 69/70
31. वही वही पृ. 74
32. वही वही पृ. 76
33. वही वही पृ. 78
34. वही वही पृ. 81
35. वही वही पृ. 85
36. वही वही पृ. 90
37. देवेन्द्र शर्मा इन्द्र 'कुहरे की प्रत्यञ्चा' पृ. 9
38. वही वही पृ. 9
39. वही वही पृ. 9/10
40. वही वही पृ. 11
41. वही वही पृ. 11
42. वही वही पृ. 13/14
43. वही वही पृ. 15
44. वही वही पृ. 17
45. वही वही पृ. 19
46. वही वही पृ. 20
47. वही वही पृ. 23
48. वही वही पृ. 26/27
49. वही वही पृ. 33
50. वही वही पृ. 34
51. वही वही पृ. 35
52. वही वही पृ. 37
53. वही वही पृ. 39
54. वही वही पृ. 41
55. वही वही पृ. 44
56. वही वही पृ. 48
57. वही वही पृ. 50

58. वही वही पृ. 52
59. वही वही पृ. 54
60. वही वही पृ. 56
61. वही वही पृ. 58
62. वही वही पृ. 71
63. वही वही पृ. 74
64. वही वही पृ. 75
65. वही वही पृ. 76
66. वही 'पथरीले शोर में' पृ. 9
67. देवेन्द्र शर्मा इन्द्र 'पथरीले शोर में' पृ. 10/11
68. वही वही पृ. 13
69. वही वही पृ. 14
70. वही वही पृ. 17
71. वही वही पृ. 19
72. वही वही पृ. 23
73. वही वही पृ. 28
74. वही वही पृ. 30
75. वही वही पृ. 32
76. वही वही पृ. 35
77. वही वही पृ. 37
78. वही वही पृ. 40
79. वही वही पृ. 41
80. वही वही पृ. 44
81. वही वही पृ. 47
82. वही वही पृ. 50
83. वही वही पृ. 51
84. वही वही पृ. 54
85. वही वही पृ. 58/59
86. वही वही पृ. 62

87. वही वही पृ. 63
88. वही वही पृ. 69
89. वही वही पृ. 72/73
90. वही वही पृ. 80
91. देवेन्द्र शर्मा इन्द्र 'पंख कटी महराबें' पृ. 21
92. वही वही पृ. 22
93. वही वही पृ. 25
94. वही वही पृ. 28
95. वही वही पृ. 30
96. वही वही पृ. 31
97. वही वही पृ. 31
98. वही वही पृ. 33
99. वही वही पृ. 35/36
100. वही वही पृ. 37
101. वही वही पृ. 38/39
102. वही वही पृ. 40
103. वही वही पृ. 42
104. वही वही पृ. 43
105. वही वही पृ. 47
106. वही वही पृ. 49
107. वही वही पृ. 51/52
108. वही वही पृ. 54
109. वही वही पृ. 53
110. वही वही पृ. 48
111. वही वही पृ. 49
112. वही वही पृ. 57
113. वही वही पृ. 60
114. वही वही पृ. 64
115. वही वही पृ. 66

116. वही वही पृ. 66
117. वही वही पृ. 67
118. वही वही पृ. 72
119. वही वही पृ. 70/71
120. वही वही पृ. 83
121. वही वही पृ. 85
122. वही वही पृ. 88
123. वही दिन पाटलिपुत्र हुए पृ. 21
124. वही दिन पाटलिपुत्र हुए पृ. 22
125. देवेन्द्र शर्मा इन्द्र 'दिन पाटलिपुत्र हुए' – पृ. 26
126. वही वही पृ. 29
127. वही वही पृ. 28
128. वही वही पृ. 23
129. वही वही पृ. 31
130. वही वही पृ. 32
131. वही वही पृ. 33
132. वही वही पृ. 34
133. वही वही पृ. 38
134. वही वही पृ. 39
135. वही वही पृ. 41
136. वही वही पृ. 42
137. वही वही पृ. 46
138. वही वही पृ. 48
139. वही वही पृ. 37
140. वही वही पृ. 37
141. वही वही पृ. 49
142. वही वही पृ. 51
143. वही वही पृ. 52
144. वही वही पृ. 55

145. वही वही पृ. 56
146. वही वही पृ. 59
147. वही वही पृ. 60
148. वही वही पृ. 65
149. वही वही पृ. 65
150. वही वही पृ. 66
151. वही वही पृ. 68
152. वही वही पृ. 71
153. वही वही पृ. 74
154. वही वही पृ. 64
155. वही वही पृ. 75, 76
156. वही वही पृ. 78
157. वही वही पृ. 77
158. वही वही पृ. 81
159. वही वही पृ. 85
160. वही वही पृ. 92
161. वही वही पृ. 94
162. वही वही पृ. 101,102
163. वही वही पृ. 106